उपयोगितावाद

अर्थात्

स्टुअर्ट मिल की संसार-प्रसिद्ध पुस्तक
'युटिलेटिरियनिज्म' का हिन्दी अनुवाद
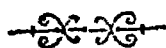
अनुवादक—

उमराव सिंह कारुणिक बी० ए०,
रचयिता "कार्नेगी" इत्यादि।

—०—

प्रकाशक—

चौधरी शिवनाथ सिंह शाण्डिल्य
ज्ञानप्रकाश मन्दिर,
पो० माछरा, ज़ि० मेरठ।

पहिला संस्करण] सन् १९२४ ई० [मूल्य १)

केवल १६ पृष्ठ विद्या प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ में मुद्रित।

मुद्रक—
साहित्य मुद्रणालय,
मेरठ.

प्रकाशक—
चौधरी शिवनाथ सिंह शाण्डिल्य
ज्ञानप्रकाश मन्दिर,
पो० माछरा, मेरठ.

विषय सूची।

आवश्यक निवेदन

बहुत से हिन्दी प्रेमियों का आग्रह था कि ज्ञान-प्रकाश ग्रन्थमाला में छोटी बड़ी—सब प्रकार की—पुस्तकें प्रकाशित की जाया करें। अतएव अब से इस ग्रन्थमाला में दस आने से कम तथा अधिक दोनों प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित होंगी। स्थायी ग्राहकों से प्रवेश फ़ीस ॥) है और सब पुस्तकें पौने मूल्य में मिलती हैं।

व्यवस्थापक—

ज्ञान प्रकाश मन्दिर।
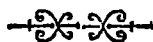
निवेदन ।

यों तो इङ्गलैंड के प्रसिद्ध तत्त्ववेता स्टुअर्ट मिल के सब ही ग्रन्थ एक से एक बढ़िया हैं, किन्तु Liberty (स्वाधीनता), Subjection of Women ,(स्त्रियों की पराधीनता), Representative Government (प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्य-व्यवस्था) तथा Utilitarianism (उपयोगितावाद)— ये चार ग्रन्थ—विशेष महत्त्वपूर्ण है । प्रस्तुत पुस्तक मिल की Utilitarianism नामक पुस्तक का अनुवाद है ।

बहुत दिन हुवे लेखक ने इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करने का विचार किया था किंतु यह मालूम होने पर, कि साहित्याचार्य पं० रामावतार जी पाण्डेय इस पुस्तक का अनुवाद ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय के लिए कर रहे हैं, यह विचार छोड़ दिया था। दार्शनिक पुस्तकों का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करना बहुत ही कठिन है । श्रद्धेय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी या साहित्याचार्य पं० रामावतार पाण्डेय प्रभृति विद्वान् ही इस कार्य को सफलता पूर्वक कर सकते हैं। इस कारण लेखक को यह जानकर बड़ा हर्ष हुवा था कि साहित्याचार्य जी ने इस पुस्तक का अनुवाद करना आरम्भ कर दिया है। किन्तु कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जब ‘ Utilitarianism ’ का अनुवाद प्रकाशित नहीं हुवा तो हिन्दी के प्रसिद्ध प्रेमी श्रीयुत चौधरी शिवनाथसिंह के आग्रह से लेखक ही को इस पुस्तक का अनुवाद करना पड़ा।

संभव है अनुवाद-संबन्धी अनेक भूलें हो गई हों। यद्यपि ऐसे कठिन कार्य में हाथ न डालना ही उचित था, किंतु यह सोच कर कि जिन बातों का विचार इस पुस्तक में है उनके जानने की बडी आवश्यकता है, अनुवाद करने का साहस करना ही पड़ा।

माननीय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार इस समय हिन्दी में जितनी पुस्तकें लिखी जायें खूब सरल भाषा में लिखी जानी चाहियें। इस कारण इस पुस्तक की भाषा यथा संभव सरल रखने का प्रयत्न किया गया है, किंतु फिर भी पुस्तक का विषय ऐसा कठिन है कि कहीं २ पर विवश होकर संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ा है।

मेरठ
१-१-२४

उमरावसिंह कारुणिक बी० ए०

आधुनिक युग " युक्ति का युग " (Age of Rationalism) ' है। प्रत्येक बात के लिये युक्ति माँगी जाती है। इस कारण आचार शास्त्र की भी सहेतुक कसौटी निश्चय करना अत्यन्तावश्यक हो गया है, क्योंकि अब पुरानी पुस्तकों से वचन मात्र उद्धृत करने से ही काम नहीं चलता है।

इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता स्टुअर्ट मिल ने अपनी संसार — प्रसिद्ध पुस्तक Utilitarianism अर्थात् उपयोगितावाद में इस ही विषय पर विचार किया है। आचार-शास्त्र का मूल आधार क्या होना चाहिये? कोई काम करना ठीक है या नहीं?-यह बात किस प्रकार निश्चित करनी चाहिये। मिल उपयोगितावादी थी। उस का विचार था कि जिस काम से जितने अधिक आदमियों का हित होता है वह उतना ही अधिक अच्छा है। इस सिद्धान्त को इस पुस्तक में बहुत अच्छी तरह प्रमाणित किया गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम होगा कि इस सिद्धान्त की पुष्टि में मिल ने जिन दलीलों या युक्तियों से काम लिया है वे बहुत प्रबल तथा अकाट्य हैं।

इस पुस्तक में पांच अध्याय हैं। पहिले अध्याय में मिल ने इस सिद्धान्त के विषय में कुछ साधारण बातें कही हैं। इस अध्याय को मूल पुस्तक की भूमिका समझना चाहिये।

दूसरे अध्याय में मिल ने 'उपयोगितावाद' का अर्थ समझाया है। अन्य अध्यायों को समझने के लिये इस अध्याय को ध्यान पूर्वक पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। मिल साहब के शब्दों में उपयोगितावाद का अर्थ यह है कि जो काम जितना आनन्द की ओर ले जाता है उतना ही अच्छा है तथा जो आनन्द से जितनी विपरीत दशा में ले जाता है उतना ही बुरा है। आनन्द से मतलब है सुख तथा कष्ट का न होना। किन्तु आनन्द भिन्न २ प्रकार के होते हैं। इस कारण प्रश्न उठता है कि भिन्न २ प्रकार के आनन्दों में एक को ऊंचा तथा दूसरे को नीचा किस प्रकार ठहरावें ? परिमाण के विचार को छोड कर और किस प्रकार एक आनन्द दूसरे की अपेक्षा अधिक मूल्यवान ठहराया जा सकता है ? इस प्रश्न का बहुत ही सन्तोषजनक उत्तर मिल ने इस प्रकार दिया है — यदि ऐसे सब मनुष्य जो दो भिन्न २ आनन्दों का अनुभव कर चुके हों बिना किसी प्रकार के नैतिक दबाव के उन में से एक आनन्द को दूसरे की अपेक्षा अधिक अच्छा आनन्द बतावें तो वही आनन्द अधिक इष्ट है। यदि वे मनुष्य, जो दो आनन्दों से परिचित है, एक आनन्द को — यह बात जानते हुवे भी कि उस आनन्द को प्राप्त करने में अधिक अशान्ति का सामना करना पडता है — दुसरे आनन्द की अपेक्षा अच्छा समझें और उस आनन्द को दूसरे आनन्द के किसी भी परिमाण के लिये जिस का कि वे उपयोग कर सकते हैं छोड़ने के लिये तैयार न हों, तो ऐसी दशा में हम उस आनन्द को गुण की दृष्टि से इतना ऊंचा दर्जा देने में ठीक हैं कि जिस से तुलना करते समय परिमाण का विचार उपेक्षणीय रह जाय।

बहुधा मनुष्य प्रश्न करते हैं कि उपयोगितावाद के

सिद्धान्त की सनद क्या है ? हम इस सिद्धान्त के मानने के लिये क्यों विवश हों ? किसी की हत्या न करने, या किसी का माल न लूटने तथा विश्वास-घात न करने या धोखा न देने के लिये तो हम बाधित हैं किंतु सार्वजनिक प्रसन्नता या दुःख बढ़ाने के लिये हम क्यों बाधित हों ? उपयोगितावाद के तीसरे अध्याय में मिल ने इस प्रश्न पर विचार किया है और उपयोगितावाद के सिद्धान्त की सनद पेश की है।

संसार में दो प्रकार के मनुष्य देखे जाते हैं। एक तो वे जो ईश्वर की नेकी में विश्वास रखते हैं और उस की नाराज़ी से डरते हैं दूसरे वे मनुष्य कि जिन का ईश्वर में विश्वास नहीं है, और जो सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना ही अपना लक्ष्य समझते हैं।

जिस मनुष्य का ईश्वर की नेकी में विश्वास है उस मनुष्य को इस बात में भी विश्वास करना होगा कि कर्त्तव्य ऐसा काम होना चाहिये जिस को ईश्वर पसन्द करता है। इस कारण ईश्वर की ओर से पुरस्कार की आशा तथा दण्ड का भय उसको इस सिद्धान्त — अर्थात सार्वजनिक सुख के सिद्धान्त — के अनुसार कार्य करने के लिये विवश करेंगे।

अब रहे वे मनुष्य जिन का लक्ष्य केवल सुख की प्राप्ति है। ऐसे मनुष्य स्वयं चाहे कैसे ही काम क्यों न करते हों, किंतु वे यही चाहते है कि दूसरे उन के साथ ऐसा व्यवहार करें जिससे उनके विचारानुसार उनके सुख की वृद्धि होती हो। दूसरों के ऐसे ही कामों की वे प्रशंसा करते हैं। इस कारण अपने भाईयों की ओर से पुरस्कार की आशा तथा दण्ड का भय तथा दूसरों के प्रति निस्स्वार्थ प्रेम तथा सहानुभूति के

न्यूनाधिक भाव — जितने मनुष्य-प्रकृति में होने सम्भव हों — ऐसे मनुष्यों को भी सार्वजनिक सुख के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने के लिये विवश करेंगे।

उपयोगितावाद के चौथे अध्याय में मिल ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में प्रमाण दिये हैं। यह बात तो सब को माननी होगी कि विज्ञान तथा शास्त्र के मूल पूर्ववचन (First Premises) हेतु देकर प्रमाणित नहीं किये जा सकते। किंतु मूल सिद्धान्तों का वास्तविकता को परखने वाली शक्तियों अर्थात् ज्ञानेंद्रियों तथा आंतरिक चेतना के द्वारा ही निर्णय किया जा सकता है।

उपयोगितावाद का सिद्धांत है कि सुख इष्ट है तथा उद्देश्य की दृष्टि से एक मात्र सुख ही इष्ट है। अन्य सारी वस्तुएं इस उद्देश्य - प्राप्ति में सहायक होने के कारण ही इष्ट है। जिस प्रकार किसी ध्वनि के श्रोतव्य होने का एक मात्र यही प्रमाण दिया जा सकता है कि आदमी वास्तव में उसे सुनते है, इस ही प्रकार उपयोगितावाद की पुष्टि में यही प्रमाण दिया जा सकता है कि मनुष्य वास्तव में सुख चाहते है तथा सुख आचारयुक्तता का एकमात्र निर्णायक है।

मनुष्य सुख क्यों चाहते हैं? इस का एक मात्र प्रमाण यही दिया जा सकता है कि सुख अच्छा है। प्रत्येक मनुष्य का सुख उस के लिये अच्छा है। इस कारण सर्व साधारण का सुख सब मनुष्यों के समाज के लिये अच्छा है। सुख आचार का एक उद्देश्य है। इस कारण आचार-युक्तता का एक निर्णायक है। यहां तक तो साफ बात है किन्तु केवल इतने ही से काम नहीं चलता। उपयोगितावाद को प्रमाणित करने

के लिये यह प्रमाणित करना होगा कि सुख आचार-युक्तता का एक निर्णायक ही नहीं वरन् एक मात्र निर्णायक है या दूसरे शब्दों में यह समझ लीजिये कि यह बात प्रमाणित करना चाहिये कि मनुष्य केवल सुख ही को नहीं चाहते हैं वरन् सुख के अतिरिक्त वे किसी और वस्तु की कामना ही नहीं करते हैं।

विपक्षियों का कहना है कि मनुष्य सुख के अतिरिक्त और चीजें भी चाहते हैं जैसे नेकी या पुण्य (Virtue), शोहरत, शक्ति तथा धन। किन्तु विचार करने से मालूम होगा कि उपरोक्त सब चीजें सुख का साधन होने ही के कारण इष्ट हैं। जो मनुष्य पुण्य या नेकी की कामना करते हैं, वे इस प्रकार की कामना इन दो कारणों में से किसी एक कारण की वजह से करते हैं। या तो उन्हें अपने नेक होने का ध्यान आने से सुख मिलता है या अपने नेक न होने का ख्याल आने से दुख होता है। शोहरत या शक्ति मिलने के साथ ही साथ हम को तत्क्षण कुछ आनन्द सा प्रतीत होने लगता है किन्तु फिर भी मनुष्य स्वाभवतया शक्ति तथा ख्याति इस कारण चाहते हैं कि शक्तिशाली या प्रसिद्ध होने पर उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति में बड़ी सहायता मिलती है। धन को यही सूरत है कि उस के द्वारा और चीजें ख़रीदी जा सकती हैं। इस कारण आरम्भ में धन की इच्छा उन वस्तुओं के कारण होती है जो उस धन द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। और उन वस्तुओं की इच्छा इस कारण होती है कि उन वस्तुओं के मिलने से सुख मिलता है तथा न मिलने से दुःख। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि सुख के अतिरिक्त और कोई चीज़ इष्ट नहीं है। अन्य

सब वस्तुयें सुख का साधन होने के कारण ही इष्ट हैं। इस प्रकार उपयोगितावाद का सिद्धान्त प्रमाणित हो जाता है। इस के अतिरिक्त उपयोगितावद की पुष्टि में और कोई प्रमाण नहीं दिया जासकता और न कोइ प्रमाण देने की आवश्यकता ही है।

'प्रत्यक्षं कि प्रमाणम्'

प्राचीन काल से उपयोगिता या सुख को आचार-शास्त्र की कसौटी मानने में एक बड़ी रुकावट यह रही है कि बहुत से मनुष्यों के दिलमें यह शङ्का बनी रहती है कि कहीं इस सिद्धानत को आचार-शास्त्र की कसौटी मानना न्याय-विरुद्ध तो नहीं है। उपयोगितावाद् के पांचवे अध्याय में मिल ने इस ही शङ्का को दूर करने का प्रयत्न किया है तथा बहुत ही योग्यता पूर्वक अनेक अकाट्य युक्तियां देकर प्रमाणित किया है कि न्याय-युक्तता (justice) का आधार ही मुख्यतया उपयोगिता है तथा न्याय-युक्तता कतिपय उन आचार–विषयक नियमों का नाम है जिनका मानुषिक भलाई की प्रधान बातों से सम्बन्ध है और जो इस कारण विना और किसी विचार के आचार विषयक साधारण नियमों से अधिक मान्य हैं।

उमराव सिंह कारुणिक बी. ए.

जान स्टुअर्ट मिल

इंग्लैण्ड के सरस्वती-मन्दिर में स्टुअर्ट मिल का आसन बहुत ऊंचा है। इसका जन्म २० मई सन् १८०६ ईस्वी को लन्दन में हुआ था। इसके पिता का नाम जेम्स मिल था। वह भी अपने समय का प्रसिद्ध तत्ववेत्ता था।

स्टुअर्ट मिल को उसके पिता ने शिक्षा पाने के लिये किसी स्कूल नहीं भेजा वरन् घर पर स्वयं ही पढ़ाना आरम्भ किया। तीन वर्ष की अवस्था ही में उसने उसको ग्रीक भाषा पढ़ाना आरम्भ कर दिया। आठवें वर्ष लैटिन भाषा का प्रारम्भ भी करा दिया। मिल का पिता प्रति दिन प्रातःकाल तथा सायंकाल टहलने के लिये जाया करता था। साथ में अपने पुत्र को भी ले जाया करता था और मार्ग में तात्विक तथा गहन विषयों को समझाया करता था जैसे, सुधार किसे कहते हैं? गवर्नमैन्ट का क्या अर्थ है? इत्यादि इत्यादि।

मिल का पिता बिल्कुल पक्षपातहीन था। वह सदैव इस बात का प्रयत्न करता रहता था कि उसका पुत्र भी उसके समान ही निष्पक्ष बने। जिन दिनों अमरीका का स्वतन्त्रता-युद्ध (American War of Independence) होरहा था, तो मिल के पुत्र ने अपने पिता से कहा कि हमारा देश सत्य के लिये लड़ रहा है। उसके पिता ने तत्काल ही उसको समझा दिया कि तुम अपने हृदय की दुर्बलता के कारण ऐसा समझते हो। इंग्लैण्ड अमरीका के साथ अन्याय कर रहा है। पिता की इस सुशिक्षा ही का परिणाम था कि स्टुअर्ट मिल ने जाति तथा देश के झूंठे अभिमान को कभी अपने पास नहीं फटकने दिया। अस्तु।

बारह वर्ष की आयु में मिल ने ग्रीक और लैटिन भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। तेरह वर्ष तीन मास की आयु में मिल ने अपने पिता के मित्र सर सेमुअल बेन्थम (Sir Samual Banthem) को एक पत्र लिखा था जिसमें उसने गत चार वर्ष के अपने अध्ययन का ब्यौरा दिया था। इस पत्र को देखने से पता चलता है कि इन चार वर्षों में उसने यूनानी भाषा में थ्यूसीडीडीज (Thusidides), अनाक्रियन (Anacreon) तथा थियोक्रीटस के ग्रन्थ पढ़ डाले थे। होमर की औडेसी (Odyessey) भी देख डाली थी। एसकीज (Aeschis), डिमा-सेथिनीज (Demosthenes), एसकाइलस (Aeschylus), सोफोक्लीज़ (Sophocles), यूरीपीडीज़ (Eüpiides) तथा एरिस्टोफे्न्स (Aristophanes) के बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन भी किया था। अरस्तू की रिटारिक (Rhetoric) तथा आरगैनन (Organon) का कुछ भाग भी देखा था। प्लेटो के डायलाग (Plato's Dialogues) तथा पिन्डार (Pindar), पौलीबियस (Polybius) और ज़ैनोफन (Xenophon) के कुछ ग्रन्थ भी पढ़े थे। लैटिन में सिसैरो की बहुतसी वक्तृतायें, ओविड (Ovid), होरेस (Horace), वरजिल (Virgil) के ग्रन्थ तथा 'लिवी' (Livy) की पांच पुस्तकों का अध्ययन किया था। टैसीटस (Tacitus), जुवैनल (Juvenal) तथा क्विनटिलियन की तो क़रीब २ सब ही पुस्तकें पढ़ डाली थीं। गणित शास्त्र में बीज-गणित, रेखागणित तथा त्रिकोणमिति का आरम्भ कर दिया था। अन्तिम वर्ष मे यूनानी, लैटिन तथा अङ्गरेजी भाषा के लेखकों के तर्क शास्त्र विषयक ग्रन्थो का अध्ययन किया था। अर्थ शास्त्र तथा रसायन शास्त्र (Chemistry) भी देखा था। द्वितीय

फिलिप के विरुद्ध विद्रोह करने के समय से इङ्गलैण्ड के सिंहासन पर विलियम तृतीय के सिंहासनारूढ़ होने के समय तक का युनाइटेड प्राविन्सेज़ का इतिहास भी लिखा था। यह सब काम चार वर्ष से १४ वर्ष से कम की आयु ही में किया था। हमारे यहां के छात्रों को यह सुनकर अवश्य आश्चर्य होगा।

मिल के पिता ने उसको धर्म विषयक कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ाया था क्योंकि उसका ईसाई धर्म के किसी भी पन्थ पर विश्वास नहीं था। वह बहुधा कहा करता था—यह समझ मे नहीं आता कि जिस सृष्टि में अपार दुःख भरे हुवे हैं उसे किसी सर्व शक्तिमान् तथा दयालु ईश्वर ने बनाया हो। लोग एक ईश्वर की कल्पना करके उसका पूजन केवल परम्परा के अनुसार चलने की आदत के कारण ही करते हैं, "हमको किसने बनाया?" इस प्रश्न का यथार्थ तथा युक्ति-सिद्ध उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि कहा जाय कि "ईश्वर ने" तो तत्काल ही दूसरा प्रश्न खड़ा हो जाता है कि "उस ईश्वर को किसने बनाया होगा?"

यद्यपि मिल के पिता ने मिल को धार्मिक शिक्षा देकर किसी मत का अनुयायी बनाने का प्रयत्न नहीं किया था किन्तु नैतिक शिक्षा देने में किसी प्रकार की कसर नहीं छोड़ी थी। न्याय पर चलना, सत्य बोलना, निष्कपट व्यवहार रखना आदि बातें मिल के हृत्पटल पर अच्छी तरह जमा दी थीं।

मिल पर अपने पिता की उत्कृष्ट शिक्षा का ऐसा अच्छा असर हुवा था कि कभी कभी मिल अपने पिता के विचारों तक में भूल निकाल देता था। किन्तु इस बात से उसका पिता रुष्ट नहीं होता था वरन् प्रसन्नतापूर्वक निस्संकोच अपनी भूलों को स्वीकार कर लेता था।

लगभग १४ वर्ष की आयु मे अपनी गृह-शिक्षा को समाप्त कर मिल देशपर्यटन के लिये निकला और एक वर्ष तक सारे योरुप में घूमा।

सन् १८२३ ईस्वी मे सत्रह वर्ष की अवस्था मे मिल ने ईस्ट इन्डिया आफ़िस में नौकरी करली। किन्तु अध्ययन करने तथा लेख लिखने का काम बराबर जारी रक्खा और वैस्ट मिनिस्टर रिव्यू में नियमित रूप से लेख देने लगा। धीरे २ उसने वक्तृता देने का अभ्यास भी कर लिया।

सन् १८२८ ई० मे मिल ने कतिपय कारणों से वैस्ट मिनिस्टर रिव्यू से अपना सवन्ध तोड लिया।

सन् १८२६ के जुलाई मास में फ्रास की प्रसिद्ध राज्य-क्रान्ति हुई। क्रान्ति का समाचार सुनते ही मिल फ्रास गया और प्रजा के प्रसिद्ध नेता लाफायटी से मिला। राज्य-क्रान्ति के विषय मे मुख्य २ बातो का ज्ञान प्राप्त करके इंगलैंड लौट आया और समाचार पत्रों तथा मासिक पत्रों में क्रान्ति के संबन्ध में जोर शोर से आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

इङ्गलैण्ड की पार्लियामैन्ट के सुधार के सम्बन्ध मे भी प्रतिभाशाली लेख लिखने आरम्भ कर दिये। सन् १८३१ ई० में 'वर्तमान काल की महिमा' नामक एक लेख माला लिखनी आरम्भ की। इस लेखमाला के लेखों की नूतनता तथा विद्वत्ता ने प्रसिद्ध तत्वज्ञानी कार्लायल तक को चकित कर दिया। कार्लायल स्वयं आकर मिल से मिला। सन् १८३०-३१ ई० मे मिल ने 'अर्थ शास्त्र के अनिश्चित प्रश्नों पर विचार' (Essays on Unsetteled Questions in Political Economy) शीर्षक पांच विद्वत्ता-पूर्ण निवन्ध लिखे।

सन् १८३० ई० मे मिल के जीवन ने नया पलटा खाया। इस वर्ष उसका मिसेस टेलर से पहिले पहिल परिचय हुआ। यह बड़ी विदुषी स्त्री थी। मिल के विचारो पर इस स्त्री के विचारों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा।

सन् १८३२ ई० में मिल ने तर्कशास्त्र (System of Logic) नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। अवकाशाभाव के कारण यह ग्रन्थ १८४१ ई० में पूर्ण हुवा। मिल ने यह ग्रन्थ बहुत से ग्रन्थों का मनन करके बड़े परिश्रम से लिखा था। मिल ने यह ग्रन्थ बिल्कुल ही नई पद्धति पर लिखा था। इसके प्रकाशित होने का प्रबन्ध करने मे कोई दो वर्ष व्यतीत हो गये। १८४३ ई० की वसन्त ऋतु में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यद्यपि उस समय इंगलैण्ड में गूढ़ विषय की पुस्तको की क़द्र नहीं थी, किन्तु फिर भी छ वर्ष ही में इस ग्रन्थ के तीन सस्करण निकल गये।

सन् १८४५ ई० में मिल ने अर्थशास्त्र (Political Economy) नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। १८४७ ई० मे यह ग्रन्थ पूर्ण हो गया। इस ग्रन्थ मे मिल ने केवल - अर्थशास्त्र के तत्वों ही का विचार नहीं किया है, वरन् इगलैण्ड, स्काटलैण्ड आदि देशों के तत्कालिक इतिहास के प्रत्यक्ष उदाहरण देकर यह भी दिखाया है कि उक्त तत्व किस प्रकार व्यवहार में आ सकते हैं। मिल के इस ग्रन्थ की भी अच्छी बिक्री हुई।

इसके बाद कुछ दिनों तक मिल ने कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा। केवल फुटकर लेख लिखता रहा।

१८४९ ई० मे मिसेस टेलर के पति का देहावसान हो गया। मिल अभी तक कुंवारा था। इस कारण उसने १८५१ ई० मे मिसेस टेलर के साथ विवाह कर लिया। दोनों मे मित्रता का सम्बन्ध तो पहिले ही से था। अब यह संबन्ध और भी घनिष्ट हो

गया और दोनों का समय बडे आनन्द से कटने लगा। 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्।'

विवाह होने पर मिल ने छ मास इटली, सिसली तथा यूनान में भ्रमण किया। सन् १८५६-५८ ई० में मिल ने स्वाधीनता (Liberty) नामक ग्रन्थ की रचना की। मिल का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के लिखने में मिल ने जितना परिश्रम किया था, उतना और किसी ग्रन्थ के लिखने में नहीं किया। मिल की पत्नी ने भी इस ग्रन्थ के लिखने में बहुत सहायता दी थी। इस ग्रन्थ को मिल तथा उसकी पत्नी की सयुक्त-रचना कहना अधिक उपयुक्त होगा।

सन् १८५६ ई० में फ्रांस में प्रवास करते समय मिल की प्यारी स्त्री का कफ़ रोग के कारण, 'स्वाधीनता' के प्रकाशित होने से पहिले ही, स्वर्गवास हो गया। पत्नी-वियोग के असीम दुःख के कारण मिल स्वाधीनता का अन्तिम सशोधन नहीं कर सका। मिल ने यह ग्रन्थ अपनी पत्नी ही को समर्पित किया है। यह समर्पण पढने योग्य है।

इस के बाद मिल ने पार्लियामैन्ट के सुधार-संबन्धी विचार (Thoughts on Parliamentary Reform) नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में मिल ने इस विषय पर विचार किया है कि गुप्त वोट (राय) देने की प्रथा अच्छी नही है तथा थोड़े वोट मिलने वाले कुछ प्रतिनिधियों को भी पार्लियामैन्ट में रखना चाहिये।

सन् १८६० और १८६१ ई० में मिल ने प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य व्यवस्था (Representative Government) तथा स्त्रियों की पराधीनता (Subjection of Women) नामक दो और विद्वत्ता पूर्ण तथा सारगर्भित ग्रन्थों की रचना की।

पहिले ग्रन्थ में मिल ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि क़ानून बनाने के लिये राजनीति विशारद विद्वानों का एक कमीशन रहना चाहिये क्योंकि प्रतिनिधियों की विराट् सभा मे क़ानून बनाने की योग्यता का सर्वथा अभाव होता है। प्रतिनिधि-सभा को कमीशन द्वारा बनाये गये क़ानूनों के स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार होना चाहिये।

स्त्रियों की स्वाधीनता नामक ग्रन्थ में मिल ने स्त्री जाति की परतन्त्रता का बहुत ही हृदय-विदारक चित्र खींचा है तथा सिद्ध किया है कि स्त्रियां मनुष्यों से शारीरिक, मानसिक आदि किसी भी शक्ति में कम नहीं हैं। मनुष्यों ने अपने स्वार्थ के कारण स्त्रियों को केवल अपने भोग विलास की सामग्री बना रक्खा है। संसार का कल्याण इसी में है कि मनुष्य अपनी स्वार्थपरता छोड़ कर स्त्रियों को समानाधिकार दें। इस पुस्तक से स्त्रियों के स्वाधीनता विषयक आन्दोलन को बड़ी सहायता मिली है।

इस के बाद मिल ने अपने कतिपय पुराने लेखों मे कुछ संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्द्धन करके उपयोगिता वाद (Utilitarianism) नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया। मिल के ग्रन्थों में यह ग्रन्थ भी बहुत महत्वपूर्ण है।

इसी बीच मे उत्तर अमरीका तथा दक्षिण अमरीका में गुलामों के सम्बन्ध में युद्ध छिड़ गया। मिल तत्काल ही समझ गया कि यह युद्ध राज्यों के बीच मे नहीं है वरन् स्वाधीनता तथा गुलामी के बीच मे है। इस कारण उस ने उत्तर अमरीका के पक्ष में पत्रों मे बहुत से लेख लिखकर प्रकाशित कराये।

कुछ समय के बाद मिल ने हैमिल्टन के तत्व-शास्त्र की परीक्षा (Examination of Hamilton's Philosphy)

नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया। उस समय सर विलियम हैमिलटन एक प्रसिद्ध तत्वज्ञानी समझा जाता था। वह दैववादी था। सन् १८६० तथा १८६१ ई० में उसके तत्वशास्त्र विषयक कुछ व्याख्यान छपकर प्रकाशित हुवे थे। इस पुस्तक मे मिल ने विशेषतया इन्हीं व्याख्यानों पर समालोचनात्मक दृष्टि डाली है।

सन् १८६५ ई० में वैस्टमिनिस्टर के आदमियो ने मिल से प्रार्थना की कि आप हमारी ओर से पार्लियामैन्ट की सभासदी के लिये खडे हों। सन् १८५५ ई० में आयर्लैण्ड वालों ने भी उस से सभासदी के लिये उम्मैदवार होने की प्रार्थना की थी किन्तु मिल ने उन की प्रार्थना को कतिपय कारणों से अस्वीकार कर दिया था। एक तो ईस्टइन्डिया मे नौकरी करने के कारण उस के पास समय नहीं था और दूसरे वह किसी पक्ष का आज्ञाकारी नहीं होना चाहता था और न सभासद् होने के लिये रुपया खर्च करना उचित समझता था। उस का कहना था कि जो मनुष्य अपने पास से रुपया खर्च करके सभासद् होता है वह मानो सभासदी माल लेता है और प्रगट करता है कि मैं सार्वजनिक सेवा के विचार से नहीं वरन् अपने किसी स्वार्थ के कारण सभासद् होना चाहता हूं।

मिल ने वैस्टमिनिस्टर वालो की प्राथना को भी अस्वीकार करना चाहा, किन्तु उन लोगों ने किसी प्रकार पीछा छोड़ा ही नहीं। उनके इस प्रकार के आग्रह को देख कर मिल ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करली, किन्तु साफ २ शब्दों मे कह दिया कि न तो मै वोट प्राप्त करने तथा रुपया व्यय करने के झझट में पड़ूंगा और न इस बात का वचन दे सकता हू कि सभासद् होजाने पर स्थानीय बातों के विषय में अवश्य प्रयत्न करूगा। इस प्रकार की स्पष्ट बातें कह कर भी सभासद् निर्वाचित हो जाना मिल ही

का काम था। इतना स्पष्टवादी तथा निस्पृह बन कर यदि सर्व शक्तिमान् ईश्वर भी इंग्लैण्ड की पार्लियामैन्ट का मैम्बर बनना चाहता तो न बन सकता था।

लगातार तीन वर्ष तक मिल पार्लियामैन्ट का मैम्बर रहा। पार्लियामैन्ट में उस की वक्तृतायें बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली हुईं। इस का कारण यह था कि वह जो कुछ कहता था उस की पुष्टि में अकाट्य युक्तियाँ देता था। इग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजनीतज्ञ ग्लैड्स्टन उस की युक्तियों की बहुत प्रशंसा किया करते थे। मिल विशेषतया उस पक्ष को लेता था जो ठीक होकर भी बलहीन होता था जिस समय आयर्लैंण्ड के एक सभासद ने आयरलैंड के अनुकूल एक बिल पार्लियामैण्ट में उपस्थित किया था तो मिल ने ही सब से पहिले उस बिल का समर्थन किया था। यह बिल इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड वालों को इतना अरुचिकर था कि उन में से मिल के अतिरिक्त केवल चार सभासदों ही ने इस बिल के पक्ष में सम्मति दी थी।

इस ही अरसे में जमैका द्वीप के हब्शी अंग्रेज़ों के ज़ुल्म से तङ्ग आकर सरकारी अफसरों के विरुद्ध उठे खड़े हुए थे। वहां के अंग्रेज़ी गवर्नर ने उन की शिकायतों के दूर करने के स्थान में पंजाब के ओडायर के समान सैंकड़ों निरपराधियों को गोली से उड़वा दिया था तथा विद्रोह शान्त हो जाने पर भी अबला स्त्रियों तक को चाबुक से पिटवाया था। जमैका के गवर्नर के इस नृशंस कार्य्य की जांच के लिये जमैका कमैटी नाम की एक सभा स्थापित हुई थी। मिल उस का सभापति था। मिल ने बहुत कुछ प्रयत्न किया कि उस दुष्ट गवर्नर को यथोचित दण्ड मिले किन्तु लोकमत विरुद्ध होने के कारण अपने प्रयत्न में कृतकार्य न हो सका।

सन् १८६८ ई० में पार्लियामैण्ट का नया चुनाव हुवा। इस बार मिल के प्रतिपक्षियों ने बड़ा जोर बांधा। टोरी दल तो बिलकुल विरुद्ध था ही भारत-हितैषी ब्राडला साहब के चुनाव में आर्थिक सहायता देने तथा जमैका के गवर्नर को दण्ड दिलाने का प्रयत्न करने के कारण बहुत से लिबरल दल वाले भी उसके विरुद्ध हो गये। परिणाम यह निकला कि इस बार मिल वैस्टमिनिस्टर की ओर से मैम्बर निर्वाचित होने में असमर्थ रहा। वैस्टमिनिस्टर में मिल की असफलता का समाचार सुन कर तीन चार अन्य स्थानों के आदमियों ने मिल से इस बातका आग्रह किया कि वह उन के यहां से उम्मैद्‌वारी के लिये खड़ा हो, किन्तु मिल ने फिर इस झगड़े में पड़ना उचित न समझा।

पार्लियामैण्ट के झंझट से छुट्टी पाकर मिल ने फिर लेख लिखने का कार्य आरम्भ कर दिया। Subjection of Women अर्थात् ' स्त्रियों की पराधीनता ' नामक पुस्तक भी छपा कर प्रकाशित की।

सन् १८७३ ई० में ६७ वर्ष की आयु में मिल ने इस संसार को सदैव के लिये छोड़ दिया।

" हक़ मग़फ़रत करे अजब आज़ाद मर्द था "

उमराव सिंह कारुणिक
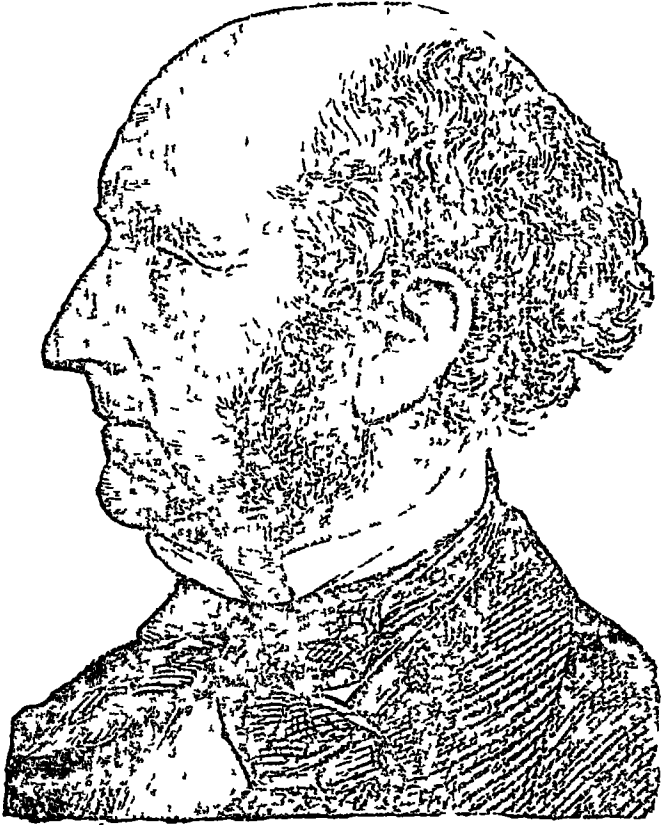
जान स्टुअर्ट मिल

जन्म—१८०६ ई०] [मृत्यु—१८८३ ई०

उपयोगितावाद ।

पहिला अध्याय ।

साधारण वक्तव्य

दर्शनशास्त्र के आरम्भ ही से अच्छे बुरे का प्रश्न या दूसरे शब्दों में आचार के आधार का प्रश्न दर्शनशास्त्र की मुख्य समस्या रहा है। बड़े २ प्रतिभाशाली विद्वानों ने इस पर विचार किया है और मत-भेद के कारण भिन्न २ शाखाओं में विभक्त होगये हैं तथा एक दूसरे पर खूब आक्षेप प्रत्याक्षेप किये हैं। आज दो सहस्र वर्ष पश्चात् भी वे ही झगड़े बने हुवे हैं। अब तक तत्त्वज्ञानी इस समस्या के सम्बन्ध में परस्पर विरोधात्मक विचार रखने वाली शाखाओं मे बटे हुवे हैं। इस समस्याके सम्बन्ध मे जितने भिन्न २ मत उस समय थे, जब कि युवावस्था

में सुक्रात बूढे प्रोटोगोरास (Protogoras) का उपदेश सुना करता था—यदि प्लेटो के 'वाद विवाद' (Dialogue) का आधार वास्तविक बात चीत है—और उस समय के शास्त्री कहलाने वालों (Sophists) के जन साधारण में प्रचलित आचार विषयक सिद्धान्तों के विरुद्ध उपयोगितावाद का सिद्धान्त प्रमाणित किया करता था, उतने ही भिन्न २ मत इस समय भी है।

यह बात ठीक है कि ऐसा ही भ्रम तथा असन्दिग्धता तथा कुछ २ दशाओ मे ऐसा ही वैमत्य सब विज्ञानों के मूल सिद्धान्तों में है। गणित शास्त्र तक—जिसके सिद्धान्त अन्य सब शास्त्रों के सिद्धान्तों से स्थिर समझे जाते हैं—इस दोष से मुक्त नहीं है। किन्तु इस वैमत्य से इन शास्त्रो की विश्वसनीयता मे कुछ बट्टा नहीं लगता। इस ऊपरी उच्छृङ्खलता का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि साधारणतया किसी शास्त्र के विस्तृत सिद्धान्त उन सिद्धान्तों से नहीं निकाले जाते हैं जिनको मूलसिद्धान्त कहा जाता है। न उनका अस्तित्व ही मूल सिद्धान्तों पर निर्भर रहता है। यदि ऐसा न होता तो बीज गणित से अधिक सन्दिग्ध तथा अपरियाप्त निष्कर्ष वाला कोई और शास्त्र नहीं होता क्योंकि बीज गणित का कोई भी असन्दिग्ध सिद्धान्त उन सिद्धान्तों से नहीं निकला है जो साधारणतया विद्यार्थियों को उसके मूल सिद्धान्त बताये जाते हैं। ये मूल सिद्धान्त—बीजगणित के बहुत से लब्ध प्रतिष्ठ शिक्षकों की व्याख्या के अनुसार—अंग्रेजी क़ानून शास्त्र के समान कल्पनात्मक तथा ईश्वर विद्या (Theology) के समान रहस्यमय हैं। वे सच्चाइया, जिनको अन्त में किसी शास्त्र के मूल सिद्धान्तों के रूप मे स्वीकार किया जाता है, वास्तव में उस शास्त्र के आरम्भिक विचारो के अध्यात्मिक वैयधिकरण का परिणाम

होती हैं। उन शास्त्रों से उनका सम्बन्ध ऐसा नहीं है जैसा बुनियाद और इमारत का होता है। उनका सम्बन्ध जड और वृक्ष का सम्बन्ध है। जिस प्रकार जड़ विना खोदे हुवे तथा प्रकाश में लाये हुवे ही अपना काम करती रहती है, इसी प्रकार मूल सिद्धान्त कहाने वाले सिद्धान्त भी विना पूर्णरूप से स्पष्टीकरण हुवे भी शास्त्र का पोषण करते रहते हैं। यद्यपि विज्ञान शास्त्र में विशेष २ घटनाओं से साधारण नियम बनाया जाता है, किन्तु व्यवहारिक शास्त्र में—जैसे आचार शास्त्र या क़ानून—इस का उल्टा भी हो सकता है। सब काम किसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर किये जाते हैं। इस कारण यह मानना युक्ति-सङ्गत प्रतीत होता है कि काम करने के नियम उस ध्येय को ध्यान में रख कर बनाये जायें जिस ध्येय के लिये काम किया जाता है। जब हम किसी काम में लगते हैं तो सब से पहिली आवश्यक बात यह है कि हम को इस बात का ठीक २ तथा साफ़ साफ़ ज्ञान होना चाहिये कि हम क्या कर रहे हैं। पीछे के स्थान में हमको आगे की ओर दृष्टि रखनी चाहिये। इस कारण ग़लत और ठीक का निर्णय इस प्रकार नहीं होना चाहिये कि हम पहिले ही से कुछ बातों को ठीक और कुछ बातों को ग़लत मान लें। ठीक और ग़लत की कसौटी ही से इस बात का निर्णय होना चाहिये कि कौन काम ठीक है और कौन काम ग़लत।

यह कठिनाई जन साधारण में प्रचलित प्राकृतिक शक्ति (Natural faculty) की कल्पना से दूर नहीं होती। प्राकृतिक शक्ति की कल्पना को मानने वालों का कहना है कि एक प्रकार की ज्ञानेन्द्रिय या नैसर्गिक बुद्धि होती है जो हम को ठीक

या ग़लत बता देती है। पहिले तो ऐसी नैसर्गिक बुद्धि का अस्तित्व ही विवादात्मक विषय है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के वे पोषक, जो तत्त्वज्ञानी होने का भी दावा करते हैं, इस विचार को छोड़ देने के लिये विवश हुवे हैं कि नैसर्गिक बुद्धि किसी काम के ठीक या ग़लत होने को इसी प्रकार बता सकती है जैसे कि हमारी अन्य इन्द्रिया सामने की चीज को या आवाज को। उन सब पोषको के अनुसार, जो विचारक कहे जाने के भी अधिकारी हैं, हमारी नैसर्गिक बुद्धि आचार संबन्धी निर्णय के सामान्य सिद्धान्त बताती है। यह हमारे हेतु की शाखा है, सचेतन शक्ति (Sensitive faculty) की नहीं। यह शक्ति आचार विषयक अमूर्त सिद्धान्तों को मालूम करने मे सहायता दे सकती है, किन्तु उन सिद्धान्तों के अनुसार किसी काम के ठीक या ग़लत होने में नहीं। आचार शास्त्र मे प्रत्यक्ष ज्ञान तथा परीक्षावाद के माननेवाले सामान्य नियमों की आवश्यकता पर जोर देते हैं। ये दोनों इस बात पर सहमत हैं कि केवल ऊपर से देखकर ही किसी काम को ठीक या गलत नहीं कहना चाहिये, प्रत्युत् किसी नियम के अनुसार उस कार्य विशेष के ठीक या ग़लत होने का निर्णय करना चाहिये। बहुत कुछ हद तक दोनो एक प्रकार के नैतिक नियम मानते हैं, किन्तु उन नियमो के पुष्टी-करण में भेद है। एक स्कूल के अनुसार तो आचार शास्त्र के सिद्धान्त स्वत सिद्ध हैं। उनको मनवाने के लिये किसी प्रकार का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। केवल उन का अर्थ समझ लेना ही पर्याप्त है। दूसरे स्कूल के अनुसार ठीक और ग़लत तथा सत्य और असत्य निरीक्षा तथा अनुभव के प्रश्न हैं। किन्तु इस बात पर दोनो सहमत हैं कि आचार शास्त्र की

भित्ती कुछ साधारण नियम होने चाहियें। दोनों का आचार शास्त्र के अस्तित्व मे पूर्ण विश्वास है, किन्तु वे उन स्वतः सिद्ध सिद्धान्तों की सूची नहीं बनाते जो इस शास्त्र के पूर्वावयव का काम दें। उन सिद्धान्तों को एक मूल सिद्धान्त का अनुवर्त्ती सिद्ध करने का तो वे बिल्कुल ही प्रयत्न नहीं करते। या तो वे आचार शास्त्र के साधारण उपदेशों को स्वतः सिद्ध मानलेते हैं या उन सर्वतन्त्र सिद्धान्तों (उसूलों) की किसी समानता को मूल सिद्धान्त बतादेते हैं। यह समानता उन सर्वतन्त्र सिद्धान्तों या उसूलों से भी कम प्रमाणिक जंचती है। इस ही कारण इस प्रकार के तत्वज्ञानियों के सिद्धान्तों को सर्व प्रियता प्राप्त नहीं हो सकती है। किन्तु फिर भी अपने कथन की शास्त्रीय पुष्टि के लिये या तो उन्हे कोई मूल सिद्धान्त या नियम बताना चाहिये जो सब प्रकार के आचार की भित्ती हो अथवा यदि कई सिद्धान्त हों तो उन में पहिले पीछे का क्रम निर्धारित करना चाहिये तथा एक ऐसा सिद्धान्त या नियम निश्चित करना चाहिये जिस के अनुसार भिन्न २ सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होने की दशा में निर्णय किया जा सके। यह सिद्धान्त या नियम स्वतः प्रमाण होना चाहिये।

यह बात बताने के लिये—कि व्यवहार मे इस कमी का बुरा प्रभाव कहांतक हुआ है या किस सीमा तक मनुष्य जाति के आचार विषयक विचार किसी निश्चित अन्तिम आदर्श न होने के कारण अनिश्चित होगये है—आचार विषयक प्राचीन तथा अर्वाचीन सिद्धान्तों का वर्णन तथा उनकी आलोचना करनी पड़ेगी। किन्तु यह बात आसानी से प्रमाणित की जा सकती है कि इन आचार-विषयक विचारों में जो कुछ

नियम-बद्धता पाई जाती है उसका कारण किसी न माने हुए आदर्श का अध्याहार्य प्रभाव है। यद्यपि किसी सर्व सम्मत मूल सिद्धान्त के न होने के कारण आचार शास्त्र ने पथ-प्रदर्शक का इतना काम नहीं किया है जितना मनुष्य की वासनाओं को पवित्र बनाने का, किन्तु फिर भी चूंकि मनुष्य की भावनाओं पर—रुचि तथा घृणा दोनों प्रकार की—इस बात का बहुत प्रभाव पडता है कि कौन २ सी वस्तुओं का मनुष्य की प्रसन्नता पर कैसा प्रभाव माना जाता है; इस कारण उपयोगितावाद के सिद्धान्त का—या उस सिद्धान्त का जिसको बाद मे बैन्थम (Bentham) ने सब से अधिक आनन्द के सिद्धान्त का नाम दिया था—उन मनुष्यों के आचार विषयक सिद्धान्तों पर भी बहुत कुछ प्रभाव पडता है जो उपयोगितावाद की प्रमाणिकता को घृणा पूर्वक अस्वीकार करदेते हैं। तत्वज्ञानियों का ऐसा कोई सा सम्प्रदाय नहीं है जो इस बात को नहीं मानता है कि आचार शास्त्र की बहुत सी छोटी २ बातों में कार्यों द्वारा प्रसन्नता के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव पर विशेष ध्यान दिया जाता है, चाहे तत्त्वज्ञानी लोग इस बात को आचार शास्त्र का मूल सिद्धान्त तथा नैमित्तिक धर्म मानना कितना ही अस्वीकार क्यों न करें। बल्कि मैं तो यहां तक कह सकताहूं कि स्वत: सिद्ध सिद्धान्त के पोषक आचार शास्त्रियों के लिये उपयोगितावाद की दलीलों का मानना अनिवार्य है। इस प्रकार के तत्त्वज्ञानियों की आलोचना करने का इस समय मेरा विचार नहीं है। किन्तु उदाहरण के रूप से इस प्रकार के तत्त्वज्ञानियों में सब से प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी कान्ट (Kant) की 'Metaphysics of Ethics' नामक पुस्तक का उल्लेख करने से

नहीं रुकसकता। इस प्रसिद्ध मनुष्य ने, जिसकी विचार प्रणाली बहुत दिनों तक दर्शन शास्त्र के इतिहास में उल्लेखनीय बात रहेगी, अपनी उपरोक्त पुस्तक मे एक सर्वतन्त्र मूल सिद्धान्त का वर्णन किया है। वह सिद्धान्त यह है—"इस प्रकार काम कर कि जिससे उस नियम को, जिसके अनुसार तू काम करता है, सब हेतुवादी कानून मान लें"। किन्तु जब उसने इस सिद्धान्त से आचार विषयक व्यवहारिक धर्मों (फ़रायज) का निर्धारण किया है तो इस बात को प्रमाणित करने मे बिल्कुल अकृत-कार्य रहा है कि अत्यन्त दुराचारपूर्ण नियमों को सब हेतुवादियों का आचार के नियम मान लेना परस्पर विरोधात्मक है तथा तर्कशास्त्र (भौतिक का जिक्र नहीं है) की दृष्टि से असम्भव है। जो कुछ उसने प्रमाणित किया है बस यही है कि इन नियमों के सर्व सम्मत हो जाने का परिणाम यही होगा कि फिर कोई आक्षेप नहीं करेगा।

इस समय अन्य सिद्धान्तों पर और अधिक वाद-विवाद किये बिना ही मैं उपयोगितावाद या प्रसन्नतावाद को समझाने का प्रयत्न करूंगा और इस सिद्धान्त की पुष्टि मे ऐसे प्रमाण दूंगा जो कि दिये जा सकते हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जिस अर्थ में साधारणतया प्रमाण शब्द लिया जाता है उस अर्थ में किसी प्रकार का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। अन्तिम ध्येय से सम्बन्ध रखने वाली समस्यओं का साक्षात् प्रमाण (Direct Proof) नहीं दिया जा सकता। किसी चीज़ को इसी प्रकार अच्छा प्रमाणित किया जा सकता है कि उसके कारण अमुक वस्तु प्राप्त होगी और उस वस्तु का अच्छा होना स्वत. सिद्ध है अर्थात् उसका अच्छा होना प्रमाणित करने के लिये किसी

प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वैद्यकशास्त्र इस ही कारण अच्छा है कि वह स्वास्थ्य प्रदान करता है। किन्तु यह प्रमाणित करना किस प्रकार सम्भव है कि स्वास्थ्य अच्छा है? सङ्गीतशास्त्र अच्छा है क्योंकि उसके अच्छा होने के प्रमाण में एक यह बात भी कही जा सकती है कि वह आनन्द प्रदान करता है। किन्तु आनन्द अच्छा है इस बात की पुष्टि मे क्या प्रमाण देना सम्भव है। अब यदि ऐसा कहा जाय कि एक सूत्र हो जिसके अन्दर सब ऐसी चीज़ें आजायें जो स्वतः अच्छी हों तथा इसके अतिरिक्त जो कुछ अच्छा हो वह स्वत. अच्छा न हो प्रत्युत इस कारण अच्छा हो कि किसी स्वत. अच्छी चीज़ की ओर ले जाने वाला है, तो ऐसे सूत्र को या तो मानलिया जा सकता है या मानने से इन्कार कर दिया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार का प्रमाण साधारण अर्थों मे प्रमाण नहीं है। यह मतलब नहीं है कि ऐसे सूत्र को अन्ध आवेग या मन की मौज के कारण मान लेना चाहिये या अस्वीकृत कर देना चाहिये। प्रमाण शब्द के विस्तृत अर्थ भी है। इस अर्थ के अनुसार इस समस्या का भी दर्शनशास्त्र की अन्य विवाद-ग्रस्त समस्याओं के समान उत्तर दिया जा सकता है। यह विषय आनुमानिक शक्ति का विषय है। किन्तु इस शक्ति से भी बिलकुल प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है केवल इस प्रकार के विचार उपस्थित किये जा सकते हैं कि जिन के प्रकाश मे बुद्धि या तो इस सिद्धान्त को स्वीकार करले या अस्वीकृत करदे। यह बात भी प्रमाण ही के बराबर है।

हम अभी इस बात की परीक्षा करेंगे कि ये विचार किस प्रकार के है, किस प्रकार इस सिद्धान्त पर लागू होते हैं और

इस कारण किन २ सहेतुक प्रमाणों के आधार पर उपयोगितावाद के सिद्धान्त को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। किन्तु सोच समझ कर उपयोगितावाद को मानने या न मानने से पूर्व उपयोगितावाद के ठीक २ अर्थ समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। मेरे विचार में इस सिद्धान्त के फैलने मे सब से बड़ी रुकावट यही पड़ी है कि साधारणतया इस के ठीक २ अर्थ नहीं समझे जाते हैं। उपयोगितावाद को समझने मे जो बड़े २ भ्रम होरहे हैं यदि केवल उन का ही निवारण हो जाय तो भी समस्या बहुत कुछ सीधी हो जाय तथा बहुत सी उलझने दूर हो जायें। इस कारण उपयोगितावाद के आदर्श के समर्थन मे शास्त्रीय कारण देने के पूर्व मैं उपयोगितावाद के सिद्धान्त ही के कुछ उदाहरण दूंगा जिस से साफ तौर से समझ मे आ जाय कि इस सिद्धान्त के क्या अर्थ हैं तथा क्या अर्थ नहीं है तथा ऐसे आक्षेपों का उत्तर आजाय जो ऐसे मनुष्यों की ओर से किये जाते हैं जिन्होंने इस सिद्धान्त को ठीक तौर से नहीं समझा है। इस के बाद मैं दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में उपयोगितावाद पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करूंगा।

दूसरा अध्याय।

उपयोगितावाद का अर्थ।

हुत से यथेष्ट ज्ञान न रखने वाले भूल से यह मान लेते हैं कि उपयोगितावादी उपयोगिता शब्द को संकुचित तथा बोलचाल के अर्थ मे—जिस में उपयोगिता शब्द आनन्द का विरोधी है—लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि दूसरी ओर कुछ मनुष्य उपयोगितावाद पर इस से उलटा आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं कि उपयोगितावादी प्रत्येक बात का आनन्द—एक मात्र आनन्द—ही की दृष्टि से विचार करते हैं। जिन्हों ने इस विषय पर कुछ भी विचार किया है वे जानते हैं कि एपीक्यूरस (Epicurus) से लेकर बैन्थम (Bentham) तक जितने उपयोगितावाद के पोषक हुवे हैं उन में से किसी का भी यह आशय नहीं

था कि उपयोगिता तथा आनन्द परस्पर विरोधी हैं। प्रत्युत् उन का कहना था कि उपयोगिता का मतलब आनन्द-प्राप्ति तथा दुःख से बचना है। उन लोगों ने उपयोगी को सुखद तथा सुन्दर का विरोधी दिखाने की जगह सदैव यही कहा है कि उपयोगी के अर्थ ही ये हैं कि अन्य बातो के साथ२ सुखद तथा सुन्दर भी हो। किन्तु फिर भी जन साधारण जिन मे बहुत से लेखक भी है— जो कि केवल समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं ही मे लेख नहीं लिखते हैं वरन दार्शनिक पुस्तकों के भी रचयिता है—इस विषय पर विचार करते हुवे यही मामूली भूल करते हैं। उपयोगितावाद के विषय में बिना कुछ विचार किये ही ये लोग उपयोगिता शब्द को पकड लेते हैं और मान बैठते हैं कि यह सिद्धान्त आनन्द के कतिपय रूपों का तथा सौन्दर्य, आभूषण या चित्तरञ्जन का विरोधी है। इस प्रकार की भद्दी भूल इस सिद्धान्त की उपेक्षा करने ही की दृष्टि से नहीं की जाती वरन् कभी कभी इस सिद्धान्त की प्रशसा करने में भी ऐसी ही भूल की जाती है मानो इस सिद्धान्त का लक्ष्य साधारण बातों या क्षणिक आनद को महत्त्व देना है।

उस सम्प्रदाय का, जो उपयोगितावाद या सब से अधिक आनन्द के सिद्धान्त को आचार शास्त्र की भित्ति मानता है, कहना है कि जो काम जितना आनन्द की ओर ले जाता है उतना ही अच्छा है तथा जो काम आनन्द से जितनी विपरीत-दशा में ले जाता है उतना ही बुरा है। आनन्द से मतलब है सुख तथा कष्ट का अभाव। आनन्द के अभाव का अर्थ है, कष्ट तथा सुख का न होना। इस सिद्धान्त द्वारा स्थिर किये गये आचार के आदर्श को साफ़ तौर से समझाने के लिये बहुत सी

बातें बताने की आवश्यकता है। विशेषतया इस बात का स्पष्टीकरण होना चाहिये कि कौन कौन सी चीजों को यह सुखद समझता है तथा कौन कौन सी चीजो को दुःखद। किन्तु इन बातो की व्याख्याओं का जीवन के उस सिद्धान्त पर—जो आचार के इस सिद्धान्त का आधार है—कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। अर्थात् आनन्द तथा दुःख से मुक्ति ही एक मात्र इष्ट लक्ष्य है और सारे इष्ट पदार्थ (जिनकी संख्या उपयोगितावाद की स्कीम मे भी उतनी ही अधिक है जितनी और किसी स्कीम मे) इसही कारण इष्ट है कि या तो उनमें आनन्द है या उन के द्वारा आनन्द बढता है तथा कष्ट कम होता है।

जीवन का इस प्रकार का सिद्धान्त बहुत से मनुष्यों के मस्तिष्क में चक्कर लगाता है। इन मनुष्यो मे कुछ ऐसे भी है जो इस सिद्धान्त के घोर विरोधी हैं। ऐसे लोगों का कहना है कि यह मान लेना, कि जीवन का आनन्द से उच्चतर (उन्हीं लोगों के अनुसार) कोई लक्ष्य नहीं है, जिस की प्राप्ति की हम इच्छा करें तथा जिसके लिये हम काम करें, विल्कुल ही नीचता है। उन के कथनानुसार यह सिद्धान्त शूकरों का है। प्राचीन समय में भी प्रतिघृणा दिखाने के लिये एपीक्यूरस (Epicurus) के अनुयायियों की भी शूकरों से तुलना की गई थी। इस सिद्धान्त के आधुनिक पोषकों पर भी आजकल जर्मन, फ्रासीसी तथा अंग्रेज विरोधी इस ही प्रकार के नुक्के छोडते हैं।

इस प्रकार के आक्षेप किये जाने पर एपीक्योरियन लोगों (Epicureans) ने सदैव यही उत्तर दिया है कि—हम लोग मानुषिक प्रकृति को नीच नहीं प्रदर्शित करते। हमारे विरोधियो ही पर यह दोष घटित होता है जो यह समझते हैं कि मनुष्यो

की दृष्टि मे उस आनन्द से अधिक और कोई आनन्द नहीं हो सकता जो शूकरों की दृष्टि में है। यदि यह कल्पना ठीक होती कि मनुष्य उन्हीं आनन्दों का अनुभव कर सकते हैं जिन का अनुभव शूकरों को होता है तो उस दशा में एपीक्योरियन लोगों (Epicureans) पर किये गये आक्षेपों का कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकता था। किन्तु फिर यह आक्षेप किसी प्रकार का इलजाम नहीं रहता। क्योंकि यदि मनुष्य और शूकर दोनों के आनन्दो-द्गार एक होते तो जीवन का जो नियम एक के लिये ठीक होता वही दूसरे के लिये भी ठीक होता। एपीक्योरियन लोगो के जीवन की जानवरों के जीवन से तुलना करना मनुष्य-जीवन को नीच मानना है क्योंकि जानवर के आनन्द मनुष्य की तुष्टि नहीं कर सकते। जानवर की भूख से मनुष्य की अनुभव-शक्तियां अधिक उच्च हैं। जब एक वार मनुष्य को उन शक्तियो का ज्ञान हो जाता है तो वह किसी चीज को आनन्द नहीं मानता जब तक कि उस चीज से उन शक्तियों की तुष्टि न हो। निस्सन्देह मेरा यह विचार नहीं है कि एपीक्योरियन लोग (Epicureans) उपयोगितावाद के सिद्धान्त से अपने अनुक्रमों की अनुसंधि बनाने मे बिल्कुल निर्दोष थे। पर्याप्त रीति से ऐसा करने के लिये बहुत से तितिक्षावाद (Stoicisim) तथा ईसाई धर्म के तत्त्वो को सम्मिलन करना पड़ेगा। किन्तु ऐसे किसी एपीक्योरियन (Epicurean) सिद्धान्त का पता नहीं है जो मस्तिष्क, अनुभव तथा कल्पना से सम्बन्ध रखने वाले आनन्दों को केवल सवेदना जनक आनन्दों से ऊंचा दर्जा नहीं देता है। फिर भी यह बात माननी पडेगी कि साधारणतया उपयोगितावादी लेखकों ने शारीरिक आनन्दों की अपेक्षा मानसिक आनन्दों

को इस कारण ऊंचा दर्जा दिया है कि वे अपेक्षाकृत अधिक कालतक स्थिर रहने वाले, सुरक्षित तथा सस्ते होते हैं—अर्थात् मानसिक आनन्दों को ऊंचे दर्जे पर उन के असली गुणों की अपेक्षा अन्य कारणों की वजह से रक्खा है। और इन सब बातों मे उपयोगितावादियों ने अपने दावे को भली भाति प्रमाणित कर दिया है। किन्तु उपयोगितावादी लोग अपने दावे को और भी उच्च आदर्श रखकर बिना किसी प्रकार की परस्पर विरोधात्मक बात कहे हुवे प्रमाणित कर सकते थे। इस बात को मानना उपयोगितावाद क विरुद्ध नहीं है कि कुछ प्रकार के आनन्द अधिक इष्ट तथा मूल्यवान हैं। यह बात बिलकुल बेतुकी मालूम पडती है कि और सब चीजों पर विचार करते समय तो गुण तथा परिमाण दोनों पर विचार करें और आनन्द का विचार करते समय एकमात्र परिमाण ही को ध्यान में रक्खे।

यदि प्रश्न किया जाय कि भिन्न २ आनन्दों मे गुण का क्या भेद हो सक्ता है तथा परिमाण के विचार को छोड कर और किस प्रकार एक आनन्द दूसरे आनन्द की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो सकता है तो ऐसे प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है। वह उत्तर यह है—यदि ऐसे सब मनुष्य या उन में से अधिकतर मनुष्य जो दो आनन्दों का अनुभव कर चुके हैं बिना किसी प्रकार के नैतिक दबाव के उनमे से एक आनन्द को दूसरे की अपेक्षा अधिक अच्छा आनन्द बतावें तो वही आनन्द अधिक इष्ट है। यदि वे मनुष्य जो दो आनन्दों से परिचित हैं एक आनन्द को, यह बात जानते हुवे भी कि उस आनन्द के प्राप्त करने में अधिक अशान्ति का सामना करना पड़ेगा, दूसरे आनन्द से अच्छा समझें और उस आनन्द को दूसरे आनन्दो के किसी

भी परिमाण के लिये, जिस का कि वे उपभोग कर सकते हैं, छोड़ने के लिये तैयार न हों तो ऐसी दशा मे हम उस इष्ट आनन्द को गुण की दृष्टि से इतना ऊँचा दर्जा देने में ठीक हैं जिस से कि तुलना करते समय परिमाण का विचार उपेक्षणीय रह जाय।

अब यह निर्विवाद बात है कि जो मनुष्य दोनों आनन्दों से बराबर परिचित हैं तथा दोनों के उपभोग करने की बराबर सामर्थ्य रखते हैं वे उस आनन्द को अच्छा समझते हैं जिस का उपभोग करने मे उन को अपनी उच्चतर शक्तियों को काम में लाना पड़ता है। यदि किसी मनुष्य से कहा जाय कि अगर तुम जानवर बनना स्वीकार करो तो तुम को जितना आनन्द जानवर अनुभव कर सकता है उतने आनन्द को अनुभव करने का पूर्ण अवसर दिया जायगा, तो वह मनुष्य कभी भी इस प्रलोभन के कारण जानवर बनना स्वीकार न करेगा। कोई बुद्धिमान् मनुष्य मूर्ख बनना न चाहेगा, कोई पढ़ा लिखा मनुष्य पागल बनना पसन्द न करेगा, कोई सहानुभूति रखने वाला तथा अन्तरात्मा के आदेशानुसार कार्य करने वाला मनुष्य खुदगर्ज तथा कमीन बनने के लिये तैयार न होगा, चाहे उनसे कितना ही क्यों न कहा जाय कि मूर्ख, पागल तथा बदमाश अपनी दशा मे उनकी अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट हैं। ऐसे आदमी कभी भी अपने विशेष आनन्द को सर्व साधारण द्वारा उपयुक्त आनन्द के लिये तिलाजलि न देंगे। यदि कभी ऐसा करने का विचार भी करेंगे तो बहुत ही दुःखित अवस्था में। ऐसे समय में वे उस दुःख से बचने के लिये अन्य किसी भी दशा मे—चाहे वह कैसी ही घृणित क्यों न हो—परिवर्तित होना चाहते हैं। उच्च विकाश प्राप्त मनुष्यों को सुखी होने के लिये अधिक बातों की

आवश्यकता है। वे निस्सन्देह साधारण मनुष्यो की अपेक्षा अधिक कारणो से दुःखी हो सकते हैं। किन्तु ये सब असुविधाये होते हुवे भी वे कभी साधारण विकाश-प्राप्त मनुष्यों की श्रेणी मे आना पसन्द न करेंगे। हम उनके ऐसा न करने का चाहे कुछ कारण क्यों न बतावें। चाहे हम उन के ऐसा न करने के कारण उनका घमण्ड बतावें-मनुष्य की उच्चतम तथा नीचतम दोनों प्रकार की भावनाओं के लिये इस शब्द का वेसोचे समझे प्रयोग किया जाता है। चाहे हम इस बात का कारण उनकी स्वातन्त्र्य—प्रियता तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता ठहरावें। चाहे हम इसका कारण उनका शक्ति तथा आवेश का प्रेम—जिन दोनों बातों का ऐसा बनना रुचिकर न होने देने में बहुत कुछ भाग है—ठहरावें। किन्तु मान-मर्यादा के विचार को इस बात का कारण बताना अधिक उपयुक्त होगा। मान-मर्यादा का ख्याल थोड़ा बहुत प्रत्येक मनुष्य को होता है। हां! यह बात ठीक है कि सब मनुष्यो को बराबर नहीं होता। अधिक विकाश प्राप्त मनुष्यो को मान मर्यादा का ख्याल अधिक होता है। इस कारण ऐसे मनुष्य कभी भी ऐसी बात की इच्छा नहीं कर सकते जिस से उनकी मान-मर्यादा में बट्टा आने की संभावना हो। यह बात दूसरी है कि किसी कारण विशेष से ऐसे मनुष्य थोडी बहुत देर के लिये अपनी मान-मर्यादा का ख्याल भूल जाये। जिन मनुष्यो का विचार है कि उच्च-विकाश प्राप्त मनुष्य ऐसा करने में अपने सुख की कुरबानी करते हैं—अर्थात् उच्च-विकाश प्राप्त मनुष्य और सब बातें बराबर होने पर साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सुखी नहीं हैं—वे लोग सुख तथा तुष्टि के दो बहुत भिन्न २ भावो को गड्ड मड्ड कर देते हैं। यह बात

निर्विवाद है कि उस मनुष्य की इच्छाओं की पूर्णरूप से तुष्टि हो जाने की बहुत अधिक संभावना है जो बहुत थोड़ी वस्तुओं को आनन्द समझता है। उच्च विकाश-प्राप्त मनुष्य समझेगा कि संसार की इस दशा में जितने आनन्द हैं अपूर्ण है। किन्तु ऐसा मनुष्य सह्य होने की दशा में सुखों की अपूर्णताओं को सहन करना सीख सकता है। ऐसा मनुष्य कभी ऐसे मनुष्य से ईर्षा नहीं करेगा जो वास्तव में इन अपूर्णताओं से अपरिचित है क्योंकि वह जानता है कि अपूर्णताओं से अपरिचित मनुष्य उस लाभ को अनुभव नहीं कर सकता जो अपूर्णताओं से परिचित होने की दशा मे होता है। सन्तुष्ट सुवर से असन्तुष्ट मनुष्य होना अच्छा है तथा सन्तुष्ट मूर्ख से असन्तुष्ट सुकरात (Socrates) होना अच्छा है। यदि मूर्खों और सुवरों का ऐसा विचार नहीं है तो इस का कारण यही है कि वे सवाल के एक पहलू ही को जानते हैं और विकाश-प्राप्त मनुष्य सवाल के दोनों पहलुओं से परिचित होता है।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि बहुत से ऐसे मनुष्य भी हैं जो उच्चतर आनन्दों के उपभोग करने की योग्यता रखने पर भी कभी२ प्रलोभन के कारण उनसे नीच कोटि के आनन्दों का उपभोग करने मे लग जाते हैं। किन्तु इस बात से हमारे कथन की पुष्टि पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। बहुधा चरित्र की दुर्बलता के कारण मनुष्य शीघ्र प्राप्त होने वाले आनंद के मुक़ाबले में उससे देर में प्राप्त होने वाले किन्तु उच्चतर आनन्द को छोड़ देते हैं। जब दो शारीरिक आनन्दों में इस प्रकार का मुकाबला होता है तो भी ऐसा ही होता है। शारीरिक तथा मानसिक आनन्दों के मुकाबले में भी यही बात देखने में

आती है। मनुष्य ऐसे आनन्दों का उपभोग करते हैं जो स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद हैं यद्यपि वे जानते हैं कि स्वास्थ्य-रक्षा अधिक अच्छी है। फिर यह भी आक्षेप किया जा सकता है कि बहुत से मनुष्य जवानी के जोश में तो बड़े उदार होते हैं किन्तु ज्यूं ज्यूं आयु बढ़ती जाती है वे सुस्त तथा स्वार्थी होते जाते हैं। परन्तु मेरा यह विश्वास नहीं है कि ऐसे मनुष्य जिन की प्रकृति में यह साधारण परिवर्तन हो जाता है, जान बूझ कर उच्च आनन्दों के मुक़ाबले मे निम्न कोटि के आनन्दों को पसन्द कर लेते हैं। मेरा विश्वास है कि निम्न कोटि के आनन्दों के उपभोग में संलग्न होने से पहिले ही वे उच्च कोटि के आनन्दों को अनुभव करने मे असमर्थ हो जाते हैं। उच्च भावों की शक्ति बहुत से मनुष्यों मे बहुत ही नाज़ुक पौधा होती है जो केवल विरुद्ध असर पड़ने ही से नहीं वरन् सहारा न मिलने ही के कारण बड़ी आसानी से नष्ट हो जाती है। बहुत से युवा पुरुषों में, यदि उन का पेशा जिस के करने के लिये वे विवश हुवे है तथा उन का समाज इस प्रकार की शक्ति का विरोधी है, यह शक्ति शीघ्र ही मृतावस्था को प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी मानसिक रुचियों (Intellectual tastes) को छोड देते हैं, उसी प्रकार समय तथा अवसर न मिलने के कारण उच्च भावनाओं को भी तिलाञ्जलि दे देते हैं और निम्न कोटि के आनन्दों का उपभोग करने मे लग जाते हैं। ऐसा करने का कारण यह नहीं होता है कि वे निम्न कोटि के आनन्दों को जान बूझ कर अच्छा समझने लगते हैं। उनके ऐसा करने का कारण यही होता है कि या तो उनकी निम्न कोटि के आनन्दों तक ही पहुंच होती है या वे उच्च कोटि के आनन्दों का उपभोग

करने में असमर्थ हो जाते हैं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कभी किसी ने दोनों प्रकार के आनन्दों का उपभोग करने में समर्थ होने पर भी निम्न कोटि के आनन्दों को उच्च कोटि के आनन्दों पर तरजीह दी है ? हा यह तो देखा गया है कि बहुत से मनुष्यों ने दोनों प्रकार के आनन्दों को मिलाना चाहा है और वे अपने इस प्रयत्न में असफल रहे हैं।

एक मात्र अधिकारी पंडितों के इस निर्णय का मेरे विचार में कोई अपील नहीं हो सकता। इस विषय पर—कि दो आनंदों में या दो प्रकार के रहन सहन के ढगों मे, बिना किसी प्रकार की नैतिक दृष्टि से विचार किये हुवे, तथा उनके परिणामों की ओर कुछ ध्यान न देते हुवे कौनसा आनन्द अधिक अच्छा है या कौनसा ढंग अधिक आनन्दप्रद है—उन मनुष्यों के निर्णय ही को, जो दोनों प्रकार के आनन्दों तथा रहन सहन के ढगों का पूर्ण ज्ञान रखते हों, अन्तिम निर्णय समझना चाहिये। मतभेद होने की दशा मे बहुमत से निर्णय होना चाहिये। आनन्दों के गुणों के विषय में भी इस निर्णय को मानने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं चाहिये क्योंकि और कोई ऐसा दरबार नहीं है जहा परिमाण तक के विषय मे निर्णय कराने के लिये जाया जाय। दो कष्टों में कौनसा कष्ट अधिक है या दो आनन्दों में कौनसा आनन्द अधिक अच्छा है—इस बात का निर्णय हम इस के अतिरिक्त और कैसे कर सकते हैं कि उन मनुष्यों की, जो दोनों प्रकार के दु:खों तथा सुखों से परिचित हों, सम्मति लें। न तो आनन्द ही समजातिक हैं और न कष्ट ही। आनन्द के मुकाबले में कष्ट सदैव विविध जातिक है। तजुरबेकार मनुष्यों के अनुभव तथा निर्णय की सहायता के बिना

और कैसे कहा जा सकता है, कि अमुक आनन्द को प्राप्त करने में इतने कष्ट की कुछ परवाह न करनी चाहिये। इस कारण जब अधिकारी मनुष्यों का अनुभव और निर्णय बतावे कि उच्च शक्तियों द्वारा प्राप्त आनन्द, परिमाण के प्रश्न को छोड कर, उन आनन्दों से जिन का अनुभव जानवर भी कर सकते हैं अधिक अच्छे हैं तो उच्च शक्तियों द्वारा प्राप्त आनन्दो को ऊंचा दर्जा देना ही ठीक है।

मैं ने इस विषय की इस कारण विस्तृत विवेचना की है क्योंकि विना इस के यह बात अच्छी तरह समझ में नहीं आ सकती कि 'उपयोगिता या सुख' किस प्रकार मानुषिक आचार के नियमों का पथ प्रदर्शक है। किन्तु उपयोगितावाद के आदर्श को मानने के लिये इस बात का मानना अनिवार्य नहीं है क्योंकि उपयोगितावाद का यह आदर्श नहीं है कि कर्ता को सबसे अधिक आनन्द मिले। उपयोगितावाद का आदर्श तो यह है कि सब को मिला कर सब से अधिक आनन्द मिले। इस बात में सन्देह हो सकता है कि क्या उच्च आचारवाला मनुष्य अपने उच्च आचार के कारण सदैव अधिक सुखी रहता है। किन्तु यह बात निस्सन्दिग्ध है कि उच्च आचार वाला मनुष्यों को अधिक सुखी बनाता है और इस कारण संसार को ऐसे मनुष्य से बहुत लाभ पहुंचता है। इस कारण उपयोगितावाद उस ही समय अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है जब कि सर्व साधारण आचार की उच्चता के महत्व को समझें।

सब से अधिक आनन्द के सिद्धान्त के अनुसार, जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, अन्तिम लक्ष्य, जिस के कारण और सब बातें इष्ट हैं (चाहे हम अपने भले का विचार करें चाहे

दूसरों के भले का) ऐसी स्थिति है जो यथा संभव दु:खों से मुक्त है तथा गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से इतनी अधिक आनन्दमय है जितनी कि हो सकती है। गुण की कसौटी तथा परिमाण के मुकाबले में उस को नापने का नियम यही है कि वही आनन्द अधिक अच्छा है जिस के पक्ष में उन मनुष्यों की सम्मति हो जो अपने ज्ञान तथा निरूपण शक्ति के कारण दोनों की तुलना करने के योग्य हों। उपयोगितावाद के अनुसार मानुषिक कार्यों का यह लक्ष्य होना चाहिये । इस कारण आचार का आदर्श भी यही होना चाहिये अर्थात् आचार से सम्बन्ध रखने वाले नियम ऐसे होने चाहियें जिनके अनुसार चलने से मनुष्य यथा सम्भव अधिक आनन्द प्राप्त कर सके; यही नहीं बल्कि सारी मनुष्य जाति वरन् यथा सम्भव समग्र ज्ञान-ग्रहणशील सृष्टि यथा सम्भव आनन्दमय स्थिति को प्राप्त हो सके।

इस सिद्धान्त का विरोधी एक और सम्प्रदाय भी है। इस सम्प्रदाय का कहना है कि किसी भी रूप मे आनन्द मानुषिक जीवन तथा कार्यों का सविवेक लक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि पहिली बात तो यह है कि आनन्द अप्राप्य है। व्यङ्ग के ढंग से यह लोग पूछते हैं, "तुझ को सुखी रहने का क्या अधिकार है?" इस प्रश्न को कुछ तोड मरोड कर कारलायल (Corlyle) ने पूछा था, "कुछ देर पहिले तुझको अस्तित्व में आने ही का क्या अधिकार था?" इसके बाद वे कहते हैं कि मनुष्य का काम बिना आनन्द के चल सकता है। सारे उच्च आशय मनुष्यों ने इस बात को अनुभव किया है। त्याग का पाठ पढ़े बिना वे उच्च आशय बन ही नहीं सकते थे। इन लोगों के अनुसार

इस पाठ को समझना तथा इसके अनुसार कार्य करना सब गुणों की आरम्भिक तथा आवश्यक शर्त है।

इनमें से पहिला आक्षेप यदि कुछ वास्तविकता लिये होता तो बड़ा वज़नदार होता। क्योंकि यदि सुख मनुष्यों के लिये अप्राप्य है तो सुख-प्राप्ति आचार या अन्य किसी सविवेक कार्य का लक्ष्य नहीं होसकती। यद्यपि ऐसी दशा में भी उपयोगितावाद की पुष्टि मे थोड़ा बहुत कहा जा सकता था, क्योंकि उपयोगिता सिद्धान्त केवल सुख-प्राप्ति की चेष्टा ही नहीं है वरन् कष्ट का कम करना भी है। इस कारण यदि सुख-प्राप्ति की आशा आकाश-कुसुम पाने की आशा ही के समान होती तो भी उस समय तक के लिये, जब तक कि मनुष्य जाति जीवित रहना चाहे और आत्म-हत्या की शरण न ले, उपयोगितावाद को बहुत कुछ काम करना रहता और इस सिद्धात की बहुत कुछ आवश्यकता रहती। इस बात का जोर से कहना— कि मानुषिक जीवन मे सुखी होना असम्भव है, यदि मनमानी बात बकना नहीं है तो भी बात को बढ़ाकर कहना अवश्य है। यदि आनन्द से यह मतलब है कि निरन्तर सुखप्रद आवेश रहे तो यह प्रत्यक्ष ही है कि ऐसा होना असम्भव है। बहुत अधिक हर्ष की उमग केवल कुछ क्षण रहती है या कुछ दशाओं में कुछ रुकावट के साथ कुछ घन्टे या कुछ दिन रहती है। इस बात से वे तत्वज्ञानी, जो आनन्द को जीवन का उद्देश्य बताते हैं, उतने ही परिचित थे जितने परिचित वे लोग हैं जो उनकी खुश्की उड़ाते हैं। जिस आनन्द से उनका मतलब था वह उमङ्ग मे अपने आप को भूल जाने का जीवन नहीं था। का मतलब ऐसे जीवन से था जिस में ऐसे अवसर आते

रहें तथा बहुत से तथा भिन्न २ प्रकार के सुखों का अनुभव होता रहे तथा कभी कभी—सो वह भी क्षणिक—कष्ट का अनुभव हो। ऐसे मनुष्य जीवन से उस से अधिक आनन्द पान के इच्छुक नहीं थे जितना कि जीवन से प्राप्त होसकता है। जिन मनुष्यों को ऐसे जीवन के उपभोग करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उन्होंने सदैव ऐसे जीवन को सुखमय समझा है, और अब भी बहुत मनुष्य अपने जीवन के अधिकांश में इस प्रकार के सुख का अनुभव करते हैं। आधुनिक रद्दी शिक्षा तथा दूषित सामाजिक बन्धनों ही के कारण सब मनुष्य इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हैं।

स्यात् अब विरोधी यह आक्षेप करें कि क्या मनुष्य सुख को जीवन का लक्ष्य समझते हुवे, इतने थोड़े सुख से सन्तुष्ट हो जायेंगे। किन्तु बहुत से मनुष्य इस से भी कम सुख से सन्तुष्ट रहे हैं। सन्तुष्ट जीवन के मुख्य अवयव दो मालूम पड़ते हैं—शान्ति तथा आवेश। कभी २ इन मे से एक भी पर्याप्त हो जाता है। बहुत शान्ति होने पर मनुष्य थोड़े ही सुख से सन्तुष्ट हो जाता है तथा बहुत आवेश होने पर अधिक दुःख सह सकता है। निस्सन्देह कोई ऐसी समवायिक (Inherent) बात नहीं है जिसके कारण मनुष्य जाति के अधिकांश को इन दोनों का मिलाना असम्भव हो क्योंकि ये दोनों बातें इतनी कम असङ्गत हैं कि दोनों में प्राकृतिक मेल है। इन मे से एक का बढाना दूसरी की तैयारी और उस की इच्छा पैदा करना है। केवल वे ही मनुष्य जिनमें आलस्य हद से ज्यादा बढ गया है शान्ति के बाद आवेश की इच्छा नहीं करते। केवल वे ही मनुष्य जिनको आवेश की आवश्यकता का मर्ज ही होगया है

आवेश के बाद की शान्ति को बद मजा समझते हैं, बजाय इसके कि जितना पहिले आवेश को सुखद समझते थे उसी के बराबर अब शान्ति को सुखद समझें। जब कि ऐसे मनुष्य जिन को देखती आखों कोई दुःख नहीं होता जीवन से असन्तुष्ट हो जाते हैं तो इस का कारण साधारणतया यह होता है कि वे अपने अतिरिक्त किसी की परवा नहीं करते। ऐसे मनुष्यों के लिये, जिन्हें साधारणतया अपने इष्ट मित्रों और संबन्धियों से कुछ प्रेम नहीं होता है, जीवन के आवेश बहुत कम हो जाते हैं। ज्यूँ ज्यूँ अपने से संबन्ध रखने वाले सब सुखों की इति श्री करने वाली मृत्यु आयु बढ़ने के कारण निकटतर होती जाती है उन्हें जीवन शुष्क मालूम देने लगता है। किन्तु वे मनुष्य जो बाद में अपने प्रेम पात्रों को छोड़ जाते हैं तथा विशेषतया वे मनुष्य, जिन की प्रकृति मनुष्य जाति के भलाई के कामों मे सर्वसाधारण से सहानुभूति रखने की हो जाती है, मृत्यु के सन्निकट होनेपर भी जीवन में वैसाही आनन्द अनुभव करते हैं जैसा कि जवानी के जोश में तथा खूब स्वस्थ होने की दशा में अनुभव किया करते थे। स्वार्थ-प्रियता के अतिरिक्त जीवन के असन्तोषकारी प्रतीत होने का दूसरा प्रधान कारण मानसिक संस्कृति की कमी है। संस्कृत मस्तिष्क—संस्कृत मस्तिष्क से मेरा मतलब तत्त्वज्ञानी के मस्तिष्क से नहीं है वरन् प्रत्येक ऐसा मस्तिष्क जिस के लिये ज्ञान—भण्डार का द्वार खुल गया है तथा जिस को उचित सीमा तक अपनी शक्तियों को काम में लाना सिखाया गया है—अपने चारों ओर के पदार्थों में अनन्त आनन्द का उद्गार अनुभव करता है। ऐसे मस्तिष्क को प्राकृतिक पदार्थों, कला के कारनामों, कविता की कल्पनाओं, मनुष्य जाति के रहन सहन के ढगों

में तथा मनुष्य जाति की प्राचीन तथा अर्वाचीन दशा और भविष्य आशाओं मे अनन्त आनन्द की सामग्री मिलती है। निस्सन्देह ऐसा होना भी संभव है कि कोई मनुष्य इन चीजों के आनन्द के सहस्राश का भी उपभोग किये बिना ही उनकी ओर ध्यान न दे। किन्तु ऐसा होना उसही दशामे संभव है कि जब उस मनुष्य ने आरम्भ ही से इन चीजो में किसी प्रकार की नैतिक या मानुषिक दिलचस्पी न ली हो और उन को केवल उत्कण्ठा मिटाने की दृष्टि से देखा हो। कोई कारण नहीं मालुम पडता कि सभ्य देश में जन्म लेने वाले मनुष्य को इतनी मानसिक संस्कृति दाय स्वरूप में क्यों न मिले जिस से वह इन विचार-शील विषयों मे यथेष्ट दिलचस्पी ले सके। कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि क्यों कोई मनुष्य अपनेही ख्याल में मस्त रहे और अपने स्वार्थ से संबन्ध न रखने वाली किसी वस्तु की ओर ध्यान ही न दे। जब आजकल ही—अनेक शिक्षा-सम्बन्धी त्रुटियों तथा निरर्थक सामाजिक बन्धनों के रहते—अनेक मनुष्य ऐसे देखे जाते हैं जो सर्वसाधारण के लिये तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर कर देते हैं तो निस्सन्देह उचित शिक्षा होने पर इस प्रकार के मनुष्यो की संख्या बहुत कुछ बढ सकती है। उचित शिक्षा प्राप्त प्रत्येक मनुष्य मे, कम या अधिक मात्रा में, इष्ट मित्रों के प्रति शुद्ध प्रेम तथा सार्वजनिक कार्यों की ओर रुचि का होना सम्भव है। ऐसे संसार में, जहा पर चित्तरञ्जन के लिये इतनी अधिक सामग्री है तथा इतनी अधिक बाते सुधारने तथा उन्नता-वस्था को पहुंचाने के लिये हैं, साधारण नैतिक तथा मानसिक विकाश प्राप्त प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को इस प्रकार व्यतीत कर सकता है कि दूसरे मनुष्यों के हृदय मे उस को

देखकर उसके समान जीवन व्यतीत करने की लालसा हो। ऐसा मनुष्य, यदि निर्धनता, बीमारी, तथा प्रेम–पात्रों की बेवफाई अथवा असामयिक मृत्यु प्रभृति शारीरिक तथा मानसिक वेदना पहुचाने वाले जीवन के वास्तविक कष्टों से बच जावे और दूषित कानून तथा पराधीनता उस के मार्ग में रुकावट न डालें तो इस मत्सरजनक स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इस कारण मुख्य समस्या तो यह है कि कष्टों से बचा जाय। कोई बड़ी तकदीर वाला ही इन कष्टों से बचता है। आधुनिक स्थिति मे ये कष्ट दूर नहीं किये जा सकते तथा अधिकतर दशाओं मे उचित अंश मे कम भी नहीं किये जा सकते। किन्तु कोई भी मनुष्य, जिस की सम्मति क्षण भर के लिये भी माननीय है, इस बात मे सन्देह नहीं कर सकता कि संसार के बहुत से कष्ट दूर किये जा सकते हैं और यदि मनुष्य उन्नति करता रहा तो ये कष्ट अन्त मे बहुत कम रह जायेंगे। कष्ट पहुंचाने वाली निर्धता को समाज की बुद्धिमानी तथा व्यक्तिगत सद्भाव बिल्कुल खो सकते हैं। सब से बड़ा दुर्जय दुश्मन रोग भी अच्छी शारीरिक तथा नैतिक शिक्षा तथा दूषित प्रभावों के न फैलने देने से बहुत कुछ कम किया जा सकता है। विज्ञान की भविष्य उन्नति से भी इस दुर्जय दुश्मन पर विजय पाने की बहुत कुछ आशा होती है। जितनी विज्ञान की उन्नति होती जा रही है उतना ही अपनी असामयिक मृत्यु तथा इस से भी अधिक कष्टप्रद अपने सुख के आधार प्रेम-पात्रों की असामयिक मृत्यु का खटका कम होता जा रहा है। अब रही बदकिस्मती तथा सासारिक बातों मे निराशाओं की बात सो उन का कारण मुख्यतया हमारी अदूरदर्शिता, दुर्व्यवस्थित इच्छायें

तथा दूषित या अपूर्ण संस्थायें हैं । संक्षेप यह कि मानुषिक कष्टों के सब बड़े २ कारण अधिकांश में और बहुत से कारण सर्वांश में प्रयत्न करने तथा सचेत रहने से दूर किये जा सकते हैं। हां ! इसमे शक नहीं कि ये कष्ट बहुत ही धीरे २ कम होंगे और इन दुश्मनों पर विजय पाने तथा संसार को आदर्श स्थिति पर लाने के लिये अनेकों पीढ़ियों को अपनी आहुति देनी पड़ेगी। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्न ही में विवेकशील तथा उदार मनुष्यों को इतना आनन्द मिलेगा जिसको अपने वे किसी स्वार्थ के लिये छोड़ने को तय्यार न होंगे।

अब दूसरे आक्षेप पर विचार करना चाहिये। आक्षेपकारियों का कहना है कि बिना सुख के भी काम चल सकता है। नि.सदेह बिना सुख के रहा जा सकता है । हमारे आधुनिक संसार के उन भागों मे भी जहां बर्बरता सब से कम है, मनुष्य जाति का ⁹⁹⁄₁₀₀ अंश विवश होकर बिना सुख के जीवन व्यतीत कर रहा है । बहुधा महापुरुष या शहीद लोग किसी ऐसी चीज के लिये, जिसको वे अपने व्यक्तिगत सुख से अधिक मूल्यवान समझते है, जान-बूझ कर सुख को तिलाञ्जलि दे देते हैं। किन्तु वह चीज़, जिसके लिये वह अपने सुख की परवा नहीं करते, दूसरों के सुख या दूसरों के सुख के किसी प्रकार के साधन के अतिरिक्त और क्या है ? अपने सुख या सुख पाने के अवसरों को छोड देने का साहस रखना बडी बात है। किन्तु फिर भी यह आत्म-त्याग किसी उद्देश्य के लिये होना चाहिये। आत्म-त्याग का उद्देश्य आत्म-त्याग ही न होना चाहिये। यदि कहा जाय कि इस आत्म-त्याग का उद्देश्य सुख नहीं है वरन् धर्म (Virtue) है तो मैं प्रश्न करूंगा कि क्या

महापुरुष या शहीद का इस बात मे विश्वास न रखते हुये भी, कि हमारे इस आत्म-त्याग से दूसरों को इस प्रकार का आत्म-त्याग न करना पड़ेगा, आत्म-त्याग करते ? क्या महापुरुष या शहीद यह जानता हुआ आत्म-त्याग करता है कि उसके ऐसा करने से उसके भाइयो को कुछ फल न मिलेगा और उनका जीवन भी सुख का त्याग कर देने वालो के समान ही हो जायगा। उन मनुष्यो का यथासम्भव सम्मान किया जाना चाहिये या जो संसारके उपकार या संसार का सुख बढ़ाने के लिये अपने सुख को लात मार देते हैं। किन्तु जो मनुष्य इसके अतिरिक्त और किसी उद्देश्य के लिये आत्म-त्याग करता है वह उस योगी से अधिक सम्मान का पात्र नहीं है जो अकारण अपने शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देता रहता है। ऐसा मनुष्य इस बात का ज्वलन्त उदाहरण हो सकता है कि मनुष्य क्या कर सकता है किन्तु इस बात का नहीं कि मनुष्य को क्या करना चाहिये।

यद्यपि संसार की अत्यन्त अपूर्ण या अव्यवस्थित दशा ही में मनुष्य सुख को बिल्कुल तिलाञ्जलि देकर दूसरों के सुख को बढ़ा सकता है; किन्तु जब तक भी संसार इस अपूर्ण या अव्यवस्थित दशा मे है इस प्रकार के आत्म-त्याग के लिये तैयार रहना मनुष्य का सब से बड़ा गुण है जो कि उस में हो सकता है।

मैं इतना और कहूँगा कि—चाहे यह बात परस्पर विरोधात्मक प्रतीत हो—कि संसार की इस दशा में जान बूझ कर सुख को तिलाञ्जलि दे देने की क्षमता से ऐसे सुख को पाने की, जो कि पाया जा सकता है, बहुत अधिक आशा बधती है। क्योंकि जान बूझ कर ऐसा कर सकने के अतिरिक्त और

किसी प्रकार जीवन उच्च नहीं बन सकता, केवल इस ही प्रकार मनुष्य अनुभव कर सकता है कि चाहे भाग्य कितना ही मेरे विरुद्ध क्यों न रहे, मेरे ऊपर क़ाबू नहीं पा सकता। एक बार ऐसा ख्याल जमते ही जीवन के दुःखों की अत्यधिक चिन्ता काफूर हो जाती है और रोम सम्राज्य के सब से बुरे समय में रहने वाले स्टायक अर्थात् तितिक्षावादियों के समान ऐसा मनुष्य शान्ति के साथ प्राप्य साधनो द्वारा तुष्टि प्राप्त कर लेता है।

किन्तु इस बीच में उपयोगितावादियों को इस बात की घोषणा करने से नहीं चूकना चाहिये कि आत्म-त्याग (Self-devotion) पर हमारा भी उतना ही अधिकार है जितना तितिक्षावादी (Stoics) या अतीतात्मकों (Transcendentalists) का। उपयोगितात्मक आचार शास्त्र इस बात को मानता है कि मनुष्य दूसरों के फ़ायदे के लिये अपने सब से अधिक फ़ायदे को छोड़ सकते हैं। किन्तु ऐसा आत्म-त्याग जो सुख के समूह (Sum total of happiness) को नहीं बढ़ाता या बढ़ाने मे सहायता नहीं देता निरर्थक आत्म-त्याग है। उपयोगितावाद एक मात्र उस आत्म-त्याग की प्रशंसा करता है जो मनुष्य जाति या किसी जाति विशेष के सुख या सुख के कुछ साधनों को बढ़ाता है।

मुझे इस बातको फिर दुबारा कहना चाहिये—क्योंकि उपयोगितावाद के विरोधी इस बात को स्वीकार करने की उदारता प्रदर्शित नहीं करते हैं—कि किसी आचार के ठीक होने का उपयोगितात्मक आदर्श वह प्रसन्नता नहीं है जिस का सम्बन्ध केवल कर्त्ता ही से हो वरन् उन सब मनुष्यों की प्रसन्नता है जिनका कि उस बात से सम्बन्ध है। अपनी निजी प्रसन्नता तथा दूसरों की प्रसन्नता का विचार करने मे उपयोगितावादी को उदासीन

परोपकारी द्रष्टा के समान न्यायशील (Impartial) होना चाहिये। यशूमसीह के सुवर्ण नियम मे उपयोगितात्मक आचार शास्त्र का पूर्ण भाव मिलता है। दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करो जैसा कि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करे तथा अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करो—इस सिद्धान्त को मानने से उपयोगितात्मक आचार का आदर्श पूर्णता को पहुंच जाता है। इस आदर्श के यथा संभव निकट पहुंचने के लिये उपयोगितावाद के अनुसार प्रथम तो नियम (कानून) तथा सामाजिक व्यवस्था (Arrangement) इस प्रकार की होनी चाहिये कि यथा सभव व्यक्तिगत प्रसन्नता या लाभ तथा सामाजिक प्रसन्नता या लाभ में परस्पर विरोध न हो वरन् प्रत्येक का एक दूसरे के साथ सन्निकट संबन्ध हो जाय। दूसरी बात यह है कि शिक्षा और जन सम्मति, जिन का मनुष्य के आचरण पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क मे इस बात को जमा दें कि उस के निजी सुख तथा सामाजिक सुख का पृथक् न हो सकने वाला (Indissoluble) संबन्ध है। विशेषतया यह बात सुझा देनी चाहिये कि किसी व्यक्ति को उन्हीं कामों को करने से वास्तविक सुख प्राप्त हो सकता है जो सामाजिक सुख को दृष्टि मे रखकर ठीक या ग़लत निर्धारित किये गये है। ऐसा होने पर उस मनुष्य को यह विचार भी नहीं आयगा कि समाज के हित के विरोधी कार्य करने से मैं सुखी हो सकूंगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे इस प्रकार के भाव उठने लगेंगे कि मैं ऐसे काम करूं जिन से समाज की भलाई हो। प्रत्येक काम मे, जो वह करेगा, उसका यही उद्देश्य रहेगा।

यदि उपयोगितावाद के विरोधी उपयोगितावाद के इस असली

स्वरूप को समझलें तो फिर मैं नहीं समझता कि अन्य आधार पर स्थित आचार शास्त्र की कौनसी खूबी उन्हें उपयोगितात्मक आचार शास्त्र में नहीं मिलेगी। अन्य आचार प्रणाली (Ethical system) ही मनुष्य-प्रकृति को इससे अधिक और क्या उच्च तथा उदार बना सकती है?

उपयोगितावाद के विरोधियों पर सदैव ही यह इल्जाम नहीं लगाया जा सकता कि वे इस सिद्धान्त को बुरे स्वरूप में पेश करते हैं। जिन लोगों ने इस सिद्धान्त की उच्चता को कुछ २ ठीक तरह समझा है वे यह आक्षेप करते हैं कि इस सिद्धान्त का आदर्श जन साधारण के लिये बहुत उच्च है। उनका कहना है कि मनुष्यों से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वे सदैव जो कुछ करेंगे जनसाधारण के हित को दृष्टि में रखते हुवे करेंगे। किन्तु ऐसा आक्षेप करना आचार के आदर्श के अर्थ ही न समझना है। ऐसा आक्षेप करने वाले कार्य करने के नियम को उसके उद्देश्य के नियम से मिला देते हैं। आचार शास्त्र का उद्देश्य है कि वह हमे बताये कि हमारा क्या धर्म या क्या फरायज हैं तथा इस बात को जानने की क्या कसौटी है। किन्तु आचार शास्त्र का कोई क्रम यह नहीं कहता कि जो कुछ भी हम करेंगे उसका एक मात्र प्रयोजन (Motive) धर्म या फ़र्ज (Duty) की भावना ही होगी। इसके विपरीत हम सौ मे से निन्यानवे अन्य और प्रयोजनों से करते हैं और ये सब काम, यदि प्रयोजन के नियम के अनुसार दूषित नहीं हैं, तो ठीक हैं। इस प्रकार ठीक अर्थ न समझ कर उपयोगितावादियों पर आक्षेप करना तो और भी अधिक अनुचित है क्योंकि उपयोगितावादियों ने अन्य आचार-शास्त्रियों की अपेक्षा इस बात

पर अधिक जोर दिया है कि कार्य के अच्छे या आचारयुक्त होने का उस कार्य करने के प्रयोजन (Motive) से कुछ सम्बन्ध नहीं है। प्रयोजन से तो कर्त्ता की उच्चता या नीचता का पता चलता है। यदि कोई मनुष्य किसी डूबते हुवे मनुष्य को डूबने से बचाता है तो आचार-नीति की दृष्टि से उसका काम ठीक है, चाहे उसने अपना धर्म समझ कर ऐसा किया हो या इस कष्ट के बदले किसी प्रकार का पुरस्कार पाने की नियत से। जो ऐसे मित्र के साथ, जो उस मे विश्वास करता है, विश्वासघात करता है वह बुरे काम का दोषी है, चाहे उसने यह काम किसी ऐसे मित्र की खातिर किया हो जिस का वह अधिक ऋणी है। किन्तु यह समझ लेना, कि उपयोगितावाद का मतलब यह है कि मनुष्य सदैव ससार या सारे समाज को दृष्टि मे रक्खे, ठीक नहीं है। अधिकतर काम संसार के लाभ की दृष्टि से नहीं वरन् मनुष्यों के फायदे की नियत से किये जाते हैं। संसार का लाभ भी मनुष्यों के लाभ के मिलने से ही होता है। इस कारण यह आवश्यक नही है कि उच्च कोटि का पुण्यात्मा मनुष्य ऐसे अवसरों पर अपना ध्यान, उन विशेष मनुष्यों से जिन से उस के कार्य का सम्बन्ध है, हटाले। हां! इस बात का दृढ निश्चय करलेना अत्यावश्यक है कि कहीं वह उन विशेष व्यक्तियों को लाभ पहुचाने में किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार पर तो आघात नहीं कर रहा है। उपयोगितावाद के अनुसार सुख का बढाना ही नेकी का प्रयोजन है। ऐसे अवसर जब कोई मनुष्य—हज़ार मे किसी एक व्यक्ति की बात दूसरी है—बहुत आदमियों को लाभ पहुंचा सकता है बहुत कम होते हैं। ऐसे अवसरों ही पर

को एक मात्र सार्वजनिक हित का ख्याल रखना चाहिये।

अन्य अवसरों पर वह व्यक्ति विशेष या कतिपय व्यक्तियों के हित का ध्यान रख सकता है। केवल उन्हीं मनुष्यों को, जिन के कार्यों का प्रभाव संसार या समाज पर पड़ता है, सार्वजनिक हित के विचार को ध्यान में रखना चाहिये। अब रहे वे काम जिन्हें आचारयुक्तता को ध्यान में रखते हुवे नहीं करना चाहिये चाहे उनका किसी विशेष दशा में अच्छा ही फल क्यों न हो। सो इन कामों के विषय में प्रत्येक विवेकशील कर्त्ता जान सकता है कि ये ऐसे काम हैं कि यदि साधारणतया उन्हें किया जाने लगे तो साधारणतया उनका फल बुरा ही होगा। सार्वजनिक हित को ध्यान में रखने की जितनी आवश्यकता उपयोगितावादी बताते हैं, उतनी आवश्यकता सब ही आचार शास्त्री बताते हैं क्योंकि उन सब का कहना है कि ऐसे काम नहीं करने चाहियें जो देखती आंखों समाज को हानि पहुंचाते हैं।

आचार के आदर्श के प्रयोजन को ठीक तौर से समझने में इससे भी अधिक भूल करने वाले तथा ठीक और ग़लत शब्दों के अर्थ ही न समझने वाले बहुधा यह आक्षेप करते हैं कि उपयोगितावाद आदमियों को सहानुभूति-शून्य बना देता है अर्थात् अन्य व्यक्तियों के प्रति मनुष्यों के नैतिक भावों को ठण्डा कर देता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले कार्यों के शुष्क परिणामों ही का ध्यान रखते हैं और उन गुणों का विचार नहीं करते जिनके कारण ये कार्य होते हैं। यदि उनके इस कथन का यह अर्थ है कि उपयोगितावादी कर्ता के किसी काम के ठीक या ग़लत होने का निर्णय करने में कर्ता के गुणों का कुछ ख्याल नहीं करते तो उनका यह आक्षेप केवल उपयोगितावाद ही पर नहीं है प्रत्युत आचार का कोई आदर्श या कसौटी (Standard)

मानने ही पर है क्योंकि जहां तक हमे मालूम है निस्सन्देह आचार शास्त्रियों का कोई भी सम्प्रदाय किसी काम को इसी कारण अच्छा या बुरा नहीं ठहराता है कि उसको किसी अच्छे या बुरे आदमी ने किया है। इस बात का कुछ भी ध्यान नहीं रखता है कि उस काम को किसी प्रेम-पात्र, वीर या परोपकारी मनुष्य ने किया है या घृणित, डरपोक या स्वार्थी मनुष्य ने। इन बातों का विचार तो मनुष्यों से सम्बन्ध रखता है, कामों के अच्छा या बुरा होने से नहीं। उपयोगितावाद में कोई ऐसी बात नहीं है जो हमें इस बात के मानने से रोके कि मनुष्य अपने कामों के ठीक या ग़लत होने ही के कारण रुचिकर या अरुचिकर नहीं होते। तितिक्षावादी (Stoics), जिनको विरोधाभासात्मक भाषा इस्तैमाल करने की लत थी और जो इस प्रकार वे अपना ध्यान नेकी को छोडकर और सब बातों से हटाना चाहते थे, बड़े शौक से कहा करते थे कि जिस के पास नेकी है सब कुछ है। नेक मनुष्य—एकमात्र नेक मनुष्य ही—धनी है, सुन्दर है, और बादशाह है। किन्तु उपयोगितावाद का सिद्धान्त नेक मनुष्यों के विषय में ऐसी कोई बात नहीं कहता। उपयोगितावादी खूब अच्छी तरह जानते हैं कि नेकी के अतिरिक्त और भी पदार्थ हैं जिन की प्राप्ति की मनुष्य को कामना होनी चाहिये। उपयोगितावादी इन सब पदार्थों का यथा योग्य सम्मान करने के लिये बिल्कुल राज़ी हैं। वे जानते हैं कि ठीक काम करने वाले मनुष्य का नेक होना आवश्यक नहीं है तथा अन्य प्रशंसनीय गुण होने की वजह से भी मनुष्य बहुधा निर्दोष काम करते हैं। जब उपयोगितावादी इस बात का कोई उदाहरण देखते हैं तो इससे कर्ता संबन्धी निर्णय में हेर फेर कर लेते हैं

किन्तु निस्सन्देह काम के ठीक या ग़लत होने के विचार में कुछ परिवर्तन नहीं करते। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि इन सब बातों के होते हुवे भी उपयोगितावादियों का विचार है कि अन्त में किसी मनुष्य के सदाचारी होने का सब से अच्छा प्रमाण उसके अच्छे काम हैं। वे ऐसे आदमी को अच्छा मानने से बिल्कुल इन्कार कर देते हैं जिसकी मानसिक वृत्ति अधिकतर बुरे कामों की ओर है। इस कारण बहुत से मनुष्य उपयोगितावादियों से रुष्ट हो जाते हैं। किन्तु जो कोई भी ठीक और ग़लत जांचने की कड़ी कसौटी रक्खेगा उसे बहुत से मनुष्यों की रुष्टता को सहन करना ही पड़ेगा। इसलिये उपयोगितावादी को इस प्रकार बुरे भले कहे जाने की परवा भी नहीं करनी चाहिये।

यदि आक्षेप का केवल यही आशय हो कि बहुत से उपयोगितावादी एकमात्र उपयोगिता की कसौटी पर कस कर ही किसी कार्य की आचार युक्तता का निर्णय करते हैं तथा चरित्र की दूसरी ख़ूबियों पर—जिनके कारण मनुष्य प्रेम किया जाता है या प्रशंसा पाता है—काफी जोर नहीं देते तो यह बात मानी जा सकती है। वे उपयोगितावादी, जिनकी नैतिक भावनाओं का विकाश हो गया है किन्तु सहानुभूति तथा सौन्दर्य-विवेक-शक्ति (Artistic Perceptions) अपरिपक्वावस्था में हैं, इस प्रकार की भूल करते हैं। ऐसी परिस्थिति में अन्य आचार-शास्त्री भी ऐसी ही भूल का शिकार होते हैं। जो बातें अन्य आचार शास्त्रियों के बचाव में कही जा सकती हैं वे ही बातें इस प्रकार के उपयोगितावादियों के बचाव में भी कही जा सकती हैं। यदि भूल है तो आचार शास्त्र के सब ही सम्प्रदायों में है। वास्तविक

बात तो यह है कि अन्य सम्प्रदायों के अनुगामियों के समान उपयोगितावादियों मे भी ठीक ग़लत की कसौटी को काम में लाने में बहुत से बहुत अधिक सख्त हैं तथा बहुत से बहुत अधिक नर्म हैं।

उपयोगितात्मक आचार शास्त्र पर किये गये दो चार अन्य छोटे मोटे आक्षेपों की भी इस स्थान पर विवेचना करना अनुचित न होगा। इस प्रकार के आक्षेप करनेवाले उपयोगितावाद के ठीक अर्थ बिल्कुल नहीं समझे हैं। बहुधा सुनने मे आता है कि उपयोगितावाद का सिद्धान्त नास्तिकता को लिये हुवे है। यदि इस प्रकार की कल्पना के विरुद्ध कुछ कहना आवश्यक है तो हम कहेंगे कि प्रश्न का उत्तर इस बात पर मुनहसिर है कि ईश्वर के गुणों के विषय मे हमारा क्या विचार है। यदि यह विश्वास ठीक है कि ईश्वर की सबसे बड़ी इच्छा यह है कि उसके बनाये प्राणी सुखी रहें तथा इसी प्रयोजन से उसने सृष्टि की रचना की है तो उपयोगितावाद का सिद्धान्त केवल नास्तिकता को लिये हुवे ही नही हैं वरन् सब सिद्धान्तो से अधिक धार्मिक है। यदि आक्षेप का यह मतलब हो कि उपयोगितावाद ईश्वरादिष्ट धर्म या श्रौत-धर्म को आचारो का सबसे बड़ा नियम नहीं मानता तो मैं इसका उत्तर दूंगा कि जो उपयोगितावादी ईश्वर की नेकी और बुद्धिमता में विश्वास रखता है इस बात मे भी अवश्य विश्वास रखता है कि ईश्वर ने आचारों के सम्बन्ध जो कुछ बताना उचित समझा है वह बहुत अंश मे उपयोगिता की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला होना चाहिये। किन्तु उपयोगितावादियो के अतिरिक्त अन्य बहुत से मनुष्यों की सम्मति है कि ईसाई धर्म भेजने से ईश्वर का आशय था कि मनुष्यों के हृदय और मस्तिष्क मे

ऐसे भाव पैदा हो जायें कि स्वयँ सत्य को मालूम करने तथा तदुपरान्त उसके अनुसार कार्य करने का प्रयत्न करें। साधारणतया बता देने के अतिरिक्त ईश्वर ने पूर्ण रूप से यह बताना उचित नहीं समझा है कि क्या २ ठीक है। इस कारण हमको एक ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता है जो हमको बतलावे कि ईश्वर की इच्छा यह है। इस सम्मति पर—चाहे ठीक हो या ग़लत—यहा विचार करना व्यर्थ है क्योंकि यह समस्या—कि आचार-शास्त्र के नियम निर्धारित करने में प्राकृतिक अथवा श्रौत-धर्म से कहां तक सहायता लेनी चाहिये—आचार-शास्त्र के सब ही सम्प्रदाय वालों के लिये है।

बहुत से आदमी उपयोगितावाद को सुसाधकता या मस्लहत (Expediency) का नाम देकर ही दुराचारी सिद्धान्त होने का लाञ्छन लगा देते हैं। साधारणतया मस्लहत शब्द 'सिद्धान्त के विपरीत' अर्थ में व्यवहृत होता है। ये लोग इस साधारण अर्थ से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु जब मस्लहत शब्द उचित या ठीक (Right) के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होता है तो साधारणतया मस्लहत शब्द से उस कार्य का मतलब होता है जो कर्ता ही के लिये विशेष लाभकारी हो। किन्तु जब मस्लहत शब्द इससे अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है तो मस्लहत शब्द से मतलब होता है कि वह काम जो तत्कालिक उद्देश्य या क्षणिक प्रयोजन के लिये अच्छा हो किन्तु उसके करने से किसी ऐसे नियम का उल्लंघन होता है जिसका उल्लंघन न करना ही अधिक मस्लहत की बात है। इस अर्थ में मस्लहत शब्द उपयोगी शब्द का समानार्थी होने के स्थान में हानिकारक होने के माने रखता है।

उदाहरणतः कभी २ झूठ बोलने से हम किसी क्षणिक झंझट से बच सकते है या किसी ऐसे उद्देश्य की सिद्धि कर सकते हैं जो हमारे लिये या दूसरों के लिये लाभकारी हो। किन्तु सत्यवादिता की बान डालना हमारे लिये बहुत उपयोगी है तथा सत्यशीलता की आदत को कमजोर करना हमारे लिये बहुत हानिप्रद है क्योंकि सत्य के पथ से डिगना —चाहे भूल से ही हो—मनुष्यों के वचन की विश्वसनीयता को बहुत कुछ कम करना है और मनुष्यों के वचन की विश्वसनीयता पर ही सारी आधुनिक सामाजिक सुव्यवस्था का आधार है तथा मनुष्यों के कथन की विश्वसनीयता पर विश्वास न रहने से सभ्यता की बढती या प्रसार मे सब से अधिक रुकावट पडती है। इस कारण क्षणिक लाभ के लिये इस सर्वातीत या बहुत अधिक मस्लहत के नियम को तोडना मस्लहत नहीं है। जो मनुष्य अपने या किसी दूसरे मनुष्य की सुविधा के लिये ऐसा करता है समाज को हानि पहुचाता है क्योंकि सामाजिक कार व्यवहार एक दूसरे के वचन को विश्वसनीय मानकर ही चलते हैं। इस कारण ऐसे मनुष्य की गणना समाज के सबसे बड़े दुश्मनों में होनी चाहिये। किन्तु सत्य पर आरूढ रहने के इतने महत्वपूर्ण तथा पवित्र नियम का कहीं२ अपवाद (Exception) भी होता है। इस बात को सब सम्प्रदाय के आचार शास्त्रियों ने माना है। विशेष अपवाद उस समय के लिये है जब कि किसी बात को छिपाने से (जैसे किसी ज्ञात सूचना को मुजरिम से छिपाने से या किसी बुरी सूचना को किसी बहुत ज्यादा बीमार आदमी के छिपाने से) किसी मनुष्य की (विशेषतया अपने से अतिरिक्त किसी और व्यक्ति की) बहुत बडी बला टल जाय। ऐसी दशा में

यदि सत्य को छिपाने अर्थात् झूठ बोलने से ही काम चल सकता हो तो ऐसा किया जा सकता है। किन्तु फिर भी ऐसे अपवाद की सीमायें निर्धारित कर देना चाहिये जिससे बिना आवश्यकता के ही लोग अपवाद की शरण न लेने लगे और एक दूसरे के कथन को अविश्वसनीय न समझने लगें। यदि उपयोगितावाद का सिद्धान्त कुछ भी उपयोगी है तो यह सिद्धान्त इस काम के लिये उपयोगी होना चाहिये कि दो उपयोगिताओं मे संघर्ष उपस्थित होने पर दोनों की तुलना करके इस बात का निर्णय कर सकें कि अमुक स्थान पर अमुक उपयोगिता उच्च स्थान की अधिकारी है तथा अमुक स्थान पर अमुक।

उपयोगितावादियों को बहुधा इस प्रकार के आक्षेपों का भी उत्तर देना पड़ता है कि काम करने से पहिले हमको इतना समय नहीं मिलता कि हम इस बात को सोच सकें कि इस कार्य का जनसाधारण के सुख पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यह आक्षेप तो ऐसा है कि जैसे कोई कहे कि ईसाई मत के अनुसार कार्य करना असम्भव है क्योंकि प्रत्येक अवसर पर जब कुछ काम करना हो पुराने तथा नये टैस्टैमैन्ट (Testament) को पढ़ने का समय नहीं मिल सकता। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यथेष्ट समय मिल चुका है। मनुष्य जाति अब तक इस विषय पर विचार करती आई है। बहुत दिनों से मनुष्य जाति इस बात का तजुरबा करती आई है कि कौन २ से कार्य का कैसा २ परिणाम होता है तथा क्या प्रभाव पड़ता है। गत समय के तजुरबे के आधार पर ही कार्यों की आचारयुक्तता निर्धारित की गई है। आक्षेप करने वाले इस प्रकार की बातें

कहते हैं जिन से सूचित होता है कि मानो अभी मनुष्य को पहले अनुभवों का कुछ पता ही नहीं है और जब किसी मनुष्य का जी हत्या या चोरी करने के लिये ललचाता है तो वह पहिले पहिल सोचना आरम्भ करता है कि क्या हत्या तथा चोरी सामाजिक सुख मे बाधा डालने वाली हैं। यह बात तो शेखचिल्लियों की सी कल्पना मालूम पडती है कि यदि मनुष्य जाति उपयोगिता को आचारयुक्तता निर्धारित करने की कसौटी मान भी ले तो भी इस बात का कोई निश्चय नहीं हो सकेगा कि कौनसा काम उपयोगी है और इस कारण समाज युवकों को इस विषय पर निर्धारित विचारों की शिक्षा देने तथा कानून द्वारा नियमों का पालन कराने की चेष्टा नहीं करेगी। मनुष्य जाति को विवेक-हीन मान लेने की दशा में तो हम आसानी से प्रमाणित कर सकते हैं कि किसी भी आचारयुक्तता परखने की कसौटी से काम नहीं चलेगा। किन्तु मनुष्य जाति को कुछ भी विवेकशील मानने की दशा में हमको यह बात माननी पड़ेगी कि मनुष्य जाति ने अब तक के अनुभव से जान लिया है कि कौन २ से कार्य का क्या २ परिणाम तथा प्रभाव होता है। गत अनुभवों के आधार पर जो विश्वास चले आते हैं वे ही सर्व साधारण के लिये आचार शास्त्र के नियम हैं। तत्त्वज्ञानियों को भी, जब तक कि वे कोई अधिक अच्छे नियम उपस्थित न कर सकें, इन विश्वासों को आचार-शास्त्र के नियम मानना पड़ेगा। मैं इस बात को मानता हूं या यों कहना चाहिये कि मेरा हार्दिक विश्वास है कि तत्त्वज्ञानी लोग बहुत से विषयों के संबन्ध में आसानी से अधिक अच्छे नियम उपस्थित कर सकते हैं। आधुनिक आचार-शास्त्र के नियम ईश्वर-प्रणीत नहीं हैं।

अभी मनुष्य जाति को इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ सीखना है कि हमारे कामों का सामाजिक सुख पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक प्रक्रियात्मक कला के समान उपयोगितावाद के उपसिद्धान्तों मे अभी बहुत कुछ सुधार हो सकता है और ज्यूँ २ मनुष्य उन्नति करता जारहा है बराबर सुधार हो रहा है। किन्तु आचार शास्त्र के नियमों मे सुधार के लिये स्थान मानना और बात है तथा पिछले अनुभव को बिल्कुल विस्मरण कर देना तथा प्रत्येक व्यक्तिगत कार्य को मूल सिद्धान्त की कसौटी पर कसना दूसरी बात है। किसी बटोही को उसके निर्दिष्ट स्थान की सूचना देने के यह माने नहीं हैं कि उस को मार्ग मे पडने वाले दूरी तथा स्थान सूचक खम्भों से सहायता लेने के लिये निषेध कर दिया है। प्रसन्नता आचार शास्त्र का अन्तिम लक्ष्य तथा उद्देश्य है—इस सिद्धान्त को उपस्थित करने के यह अर्थ नहो हैं कि उस लक्ष्य पर पहुंचने के लिये कोई मार्ग निर्धारित नही करना चाहिये तथा उस लक्ष्य की ओर जाने वाले मनुष्यों को यह न बताया जाय कि अमुक दशा के स्थान में अमुक दशा से जाना उचित है। इस विषय पर लोगों को ऊपपटाग बातें कहना या सुनना नही चाहिये। कोई आदमी यह नहीं कहता कि मल्लाह लोग नाविक पञ्चाङ्ग (Nautical Alamanak) की गणना करने के लिये नहीं ठहर सकते, इस कारण सामुद्रिक विद्या का आधार गणित ज्योतिष (Astronomy) नहीं है। विवेक-शील प्राणी होने के कारण मल्लाह लोग पहिले ही से सामुद्रिक पञ्चाङ्ग की गणना करके समुद्र पर जाते हैं। सारे विवेकशील प्राणी ठीक या व ठीक सम्बन्धी साधारण प्रश्नों पर अपने विचार निश्चित करके जीवनरूपी समुद्र में उतरते हैं। जब तक दूरदर्शिता प्रशंसनीय मानी जाती रहेगी,

ऐसा ही होता रहेगा । हम आचार शास्त्र का चाहे कोई मूल सिद्धान्त मान ले हमें उसके अनुसार कार्य्य करने के लिये गौण सिद्धान्तों की भी आवश्यकता पड़ेगी । किसी विशेष सम्प्रदाय पर गौण सिद्धान्त मानने के लिये विवश होने का इल्जाम नहीं लगाया जा सकता क्योंकि सब सम्प्रदायवालों ही को ऐसा करना पड़ता है । किन्तु यह कहना कि ऐसे गौण सिद्धान्त स्थिर नहीं किये जा सकते तथा मनुष्य जाति मानुषिक जीवन के अनुभव से अब तक कतिपय साधारण परिणामो पर नहीं पहुची है और न कभी पहुंचेगी नितान्त मूर्खता है ।

उपयोगितावाद के विरुद्ध शेष आक्षेपों मे—जो बहुधा किये जाते हैं—अधिकतर मानुषिक प्रकृति की कमज़ोरियो का इल्जाम उपयोगितावाद के माथे थोपा जाता है तथा कहा जाता है कि विवेकशील मनुष्यों को अपने जीवन का मार्ग स्थिर करने में बड़ी कठिनाइयां पड़ेंगी । आक्षेप किया जाता है कि उपयोगितावादी मनुष्य अपने आप को नैतिक नियमों का अपवाद मान लेगा तथा प्रलोभन मिलने पर नियम को मानने की अपेक्षा उसका उल्लङ्घन करना उपयोगी समझेगा । किन्तु क्या उपयोगितावाद ही ऐसा मत है जिसका अनुयायी होने से हमको दूषित कार्य करने का बहाना मिल सकता है और हम अपने अन्त करण को धोखा दे सकते हैं ? सब सिद्धान्त इस बात को मानते है कि आचार शास्त्र मे परस्पर विरोधात्मक परिभावनाए (Considerations) उपस्थित होती है अर्थात् यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौनसी बात आचार-युक्त है । यह किसी मत विशेष की त्रुटि नहीं है । इसका कारण मानुषिक कार्य्यों की जटिलता है जिसके कारण आचार के अपवाद रहित नियम नहीं बनाये जा सकते । किसी भी

कार्य्य को सदैव के लिये अच्छा या बुरा बताना कठिन है। आचारशास्त्रियों का कोई सा भी ऐसा सम्प्रदाय नहीं है जो कर्त्ता की नैतिक उत्तरदातृता या जिम्मेदारी को ध्यान में रखते हुवे असाधारण परिस्थितियों के लिये अपने नियमों को ढीला नहीं कर देता है। इस कारण नियमों को ढीला करने की वजह से प्रत्येक मत में आत्म-वञ्चना तथा वेईमानी की तर्क-प्रणावता घुस वैठती है। ये वास्तविक कठिनाइया है। आचार शास्त्र की कल्पना में तथा अन्त करण के आदेशानुसार अपने चरित्र को वनाने के मार्ग में ये कठिन समस्याये हैं। व्यवहार में कर्त्ता अपनी वुद्धि तथा दृढ़चरित्रता की न्यूनाधिकता के कारण इन कठिनाइयों को थोड़ा या वहुत दूर कर सकता है। किन्तु विरोधात्मक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का निर्णय करने के लिये अन्तिम कसौटी उपस्थित करने की दशा में उपयोगितावाद को कम उपयोगी किस प्रकार ठहराया जा सकता है? यदि किसी कार्य की आचारयुक्तता का अन्तिम प्रमाण उस कार्य की उपयोगिता है तो दो कर्त्तव्यों मे परस्पर-विरोधात्मक होने की दशा में उपयोगिता की कसौटी पर कस कर ही इस झगड़े को निपटाना चाहिये। यद्यपि इस आदर्श या कसौटी को काम मे लाना कठिन है, फिर भी कोई भी आदर्श या कसौटी न होने से तो किसी आदर्श या कसौटी का होना ही अधिक अच्छा है। अन्य सम्प्रदायों मे आचार-शास्त्र के नियम स्वत' प्रमाण हैं। इस कारण विवाद उपस्थित होजाने की दशा में कोई मध्यस्थ नहीं है। वाक्चतुरता (Sophistry) ही से झगड़ा निपटाया जाता है। हमको याद रखना चाहिये कि गौण सिद्धान्तों में विरोध उपस्थित होने पर मूल सिद्धान्तों के अनुसार निर्णय करना ही आवश्यक है।

तीसरा अध्याय ।

उपयोगितावाद के सिद्धान्त की सनद ।
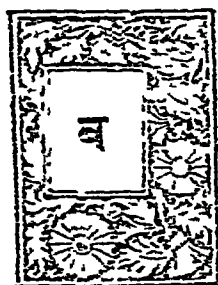
हुधा यह प्रश्न किया जाता है कि उपयोगितावाद के सिद्धान्त की सनद क्या है? किन प्रयोजनों से हम इस सिद्धान्त को माने? या हम इस सिद्धान्त को किस कारण मानने के लिये बाधित हों? अर्थात् इस सिद्धान्त का मूल आधार क्या है? किसी नैतिक या आचार विषयक आदर्श या कसौटी के संबन्ध मे ऐसा प्रश्न करना ठीक भी है। इस प्रश्न का उत्तर देना नैतिक दर्शन शास्त्र का आवश्यक अङ्ग है। किन्तु यह प्रश्न कभी २ उपयोगितावाद के विरुद्ध आक्षेप के रूप में किया जाता है मानो इस सिद्धान्त के सम्बन्ध ही में ऐसा प्रश्न हो सकता है। वास्तव में सब आदर्शों तथा कसौटियों के सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न

उठता है। उपयोगितावाद ही के विषय में ऐसा प्रश्न उठाने का कारण यह है कि जब किसी आदमी से कहा जाता है कि वह किसी चीज को आचार-शास्त्र का आधार माने जिसको मानने का वह आदी नहीं है, अर्थात् जिस बात को अब तक वह आधार मानता हुआ नहीं आया है, तो वह पहले पहल घबराता है क्योंकि आचार शास्त्र की वे बातें जो उसकी शिक्षा के कारण तथा दूसरे लोगों की देखा-देखी उसके दिल में बैठ गई हैं उसको स्वतः सिद्ध मालूम पड़ती हैं। जब उससे किसी ऐसे सर्वव्यापक सिद्धान्त को मानने के लिये कहा जाता है जिस पर प्रचलित रस्म-रिवाज (Custom) की वैसी मोहर नहीं लगी हुई है तो उसको ऐसे सिद्धान्त में विरोधाभास प्रतीत होता है। मूल सिद्धान्त की अपेक्षा कल्पित उप सिद्धान्तों को अनुकरणीय मानने की ओर अधिक प्रवृत्ति होती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि ऊपरी इमारत नीव के आधार पर खड़ी रहने की अपेक्षा बिना नीव के ही अधिक अच्छी तरह खड़ी रह सकती है। वह अपने दिल में कहता है कि किसी की हत्या न करने या किसी का माल न लूटने तथा विश्वासघात न करने या धोखा न देने के लिये तो मैं बाधित हूं किन्तु सार्वजनिक प्रसन्नता या सुख बढ़ाने के लिये मैं क्यों बाधित हूं? यदि किसी बात में मेरा हित है तो मैं सार्वजनिक हित की अपेक्षा अपने ही हित को क्यों न अधिक अच्छा समझूं?

यदि आचार विषयक भावना (Moral Sense) के सम्बन्ध में उपयोगितावाद की कल्पना ठीक है तो इस प्रकार की कठिनाई उस समय तक सदैव उपस्थित होती रहेगी जब तक कि वे प्रभाव—जिन से चरित्र बनता है—मूल सिद्धान्त पर भी उतना ही जोर न देने लगेंगे जितना जोर मूल सिद्धान्त के

कतिपय परिणामों पर देते हैं तथा जब तक शिक्षा के सुधार से हम अपने भाइयों के साथ एकता के सूत्र में न बँध जायँगे अर्थात् उनके सुख दुःख को अपना सुख दुःख न समझने लगेंगे तथा जिस प्रकार साधारण युवक जुर्म के भय से कांपता है उसी प्रकार अपने समान सर्व प्राणियों को समझना (आत्मवत् सर्वभूतेषु) हमारी आदत ही में दाखिल न हो जायगा। किन्तु ऐसी दशा को प्राप्त होने से पहिले उपरोक्त कठिनाई उपयोगिता के सिद्धान्त पर ही विशेष रूप से लागू नहीं होती है। जब कभी भी हम आचार विषयक कार्यों का विश्लेषण करके उनको सिद्धान्तों का रूप देने का प्रयत्न करेंगे, यह कठिनाई उस समय तक सदैव उपस्थित रहेगी जब तक कि मनुष्यों का मस्तिष्क मूल सिद्धान्त को भी मूल सिद्धान्त के उपयोगों (Applications) के समान ही प्रमाणिक न मानने लगेगा।

उपयोगितावादी भी अपने सिद्धान्त की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में आचार-शास्त्र के अन्य सम्प्रदाय वालों के बराबर ही सनद (Sanctions) दे सकते हैं। ये सनद या तो बाह्य हैं या आन्तरिक। बाह्य सनदों के सम्बन्ध में यहां पर अधिक विस्तार से लिखना आवश्यक नहीं है। ये बाह्य सनद ये हैं—अपने भाइयों या ईश्वर को प्रसन्न करने की आशा तथा उनकी नाराजगी का डर तथा अपने भाइयों के प्रति न्यूनाधिक अंश में प्रेम और सहानुभूति तथा न्यूनाधिक अंश में ईश्वर का प्रेम और डर जिनके कारण हम अपने स्वार्थ का विचार छोड़ कर ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करने की ओर आकर्षित होते हैं। प्रत्यक्ष में कोई कारण नहीं मालुम कि अन्य प्रकार के आचार शास्त्रों के समान उपयोगितात्मक आचार

शास्त्र का पालन करने में भी उपरोक्त प्रयोजन इतने ही पूर्ण रूप से तथा इतने ही जोर से प्रवृत्त न करें। निस्सन्देह अपने भाइयों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति के भाव मानसिक विकाश के अनुसार कम या अधिक होंगे। नैतिक कर्त्तव्य निर्धारित करने की सार्वजनिक सुख के अतिरिक्त चाहे और कोई कसौटी हो या न हो, किन्तु यह बात निस्सन्दिग्ध है कि मनुष्य सुख चाहते हैं। सुख के पाने के लिये मनुष्य स्वयं चाहे कैसे ही काम क्यों न करते हों, किन्तु वे चाहते हैं कि दूसरे उनके साथ ऐसा व्यवहार करें जिससे उनके विचारानुसार उनके सुख की बढ़ती होती हो। दूसरों के ऐसे ही कामों की वे प्रशंसा करते हैं। अब धार्मिक उद्देश्य को लीजिये। यदि मनुष्यों को ईश्वर की नेकी में विश्वास है जैसा कि बहुत से मनुष्य प्रगट करते हैं तो उस मनुष्य को, जो सार्वजनिक सुख को कर्त्तव्य निर्धारित करके की एकमात्र कसौटी मानता है, इस बात में भी विश्वास करना होगा कि कर्त्तव्य ऐसा काम होना चाहिये जिसको ईश्वर पसन्द करता है। इस कारण पुरस्कार की आशा तथा दण्ड का भय—चाहे शारीरिक चाहे नैतिक तथा चाहे ईश्वर की ओर से चाहे अपने भाइयों की ओर से—ये सब बातें तथा साथ में बिना मतलब के दूसरों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति के न्यूनाधिक भाव—जितने मनुष्य प्रकृति में होने सम्भव हों—हमको इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने के लिये विवश करेंगे। शिक्षा तथा साधारण संस्कृति (Cultivation) ज्यूं २ इन उद्देश्यों की ओर अधिक झुकाती जायेंगी, ये सब कारण और भी अधिक जोर से काम करने लगेंगे।

ये तो बाह्य कारण हुवे जो हम को इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने के लिये विवश करते हैं। अब आन्तरिक कारण

लीजिये । चाहे हमारा कर्तव्य (Duty) का कुछ भी आदर्श या कसौटी क्यो न हो आन्तरिक कारण सदैव एक ही है । वह आन्तरिक कारण यह है कि हमारे ही मस्तिष्क में एक प्रकार की भावना है । कर्तव्य-पथ से विचलित होने पर कम या अधिक कष्ट होता है । उचित विकाश-प्राप्त तथा सदाचारी मनुष्यों मे यह भावना इतनी प्रबल होती है कि विशेष दशाओं मे उनको कर्तव्य-पथ से विचलित होना असम्भव हो जाता है । यह भावना ही, जब स्वार्थ भाव से रहित होकर अर्थात् निष्कामरूप से कर्तव्य का विचार करती है, अन्त करण का सार है । निस्सन्देह अन्त करण की बनावट बड़ी पेचीदा है । सहानुभूति, प्रेम, भय, धार्मिक विचार, बचपन तथा बीते हुवे जीवन की याद, आत्म-सम्मान, दूसरो का मान करने की इच्छा और कभी कभी आत्म-पतन (Self-abasement) भी—इन सब बातों का प्रभाव अन्त करण पर पड़ता है । अन्त करण कैसे बना है ?—यह प्रश्न बड़ा जटिल है । किन्तु इस विषय में हमारे चाहे कुछ भी विचार क्यो न हो यह बात निर्विवाद है कि अन्त करण ऐसे कामों को करने से, जो हमारे उस आदर्श के जिसको हमने ठीक मान रक्खा है विरुद्ध हैं, रोकता है तथा अन्त करण की बात न मानने से एक प्रकार की वेदना होती है ।

इस कारण सारे सदाचारो की अन्तिम सनद (Sanction)—बाह्य प्रयोजनों को छोड़कर—हमारे ही मस्तिष्क की एक आत्मगत (Subjective) भावना है । जिन लोगो का आदर्श उपयोगिता है उनको इस प्रश्न का उत्तर देने मे, कि इस सिद्धान्त की सनद क्या है, किसी प्रकार की अड़चन नहीं होनी चाहिये । हम उत्तर दे सकते है—मनुष्य जाति की

सदसद्विवेकिनी भावनायें । निस्सन्देह इस सनद से वे मनुष्य उपयोगितावाद को मानने के लिये वाधित नहीं किये जा सकते जिनमें इस प्रकार की भावनाएं नहीं हैं जिनको यह सिद्धान्त उत्तेजित करता है। किन्तु ऐसे आदमी तो अन्य किसी नैतिक सिद्धान्त के भी उपयोगितावाद के सिद्धान्त से अधिक आज्ञाकारी नहीं होंगे। ऐसे लोग तो वाह्य कारणों से ही किसी कार्य की आचारयुक्तता मान सकते हैं। किन्तु यह बात निस्सन्दिग्ध है कि इस प्रकार की भावनाएं मनुष्यों में हैं। अनुभव अर्थात् तजुरबा इस बात को प्रमाणित करता है कि ऐसी भावनाएं हैं तथा उन मनुष्यों पर, जिनमें इस प्रकार की भावनाओं का उचित रीति से विकाश किया गया है, प्रभाव डालती है। कभी इस बात का कोई कारण नहीं बतलाया गया है कि ये भावनाएं अर्थात अन्तरात्मा इस प्रकार विकसित क्यों नहीं की जासकती कि जिससे अन्य आचार विषयक नियमों के समान उपयोगितावाद के अनुसार कार्य करने के लिये भी समान शक्ति से उत्तेजित करे।

मुझे मालूम है कि कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि ऐसे मनुष्य, जो आचारयुक्तता का आधार किसी इन्द्रियातीत (Transcendental) बात को मानते हैं अर्थात् इस ही कारण से किसी कार्य को करना ठीक समझते हैं क्योंकि वह ठीक है, अपनी अन्तरात्मा ही को प्रमाणिकता का आधार मानने वाले मनुष्यों की अपेक्षा अपने पक्ष से कम विचलित होंगे। किन्तु अध्यात्म-शास्त्र की इस समस्या के संबन्ध में किसी मनुष्य की कोई सम्मति क्यों न हो, वह शक्ति जो वास्तव में मनुष्य को कार्य करने के लिये उत्तेजित करती है उस ही की

आत्मगत भावना है। किसी मनुष्य का कर्तव्य के अनात्म सम्बन्धी (Objective) होने मे ईश्वर के अनात्म-सम्बन्धी होने से अधिक विश्वास नहीं है। किन्तु फिर भी ईश्वर के विश्वास का-पुरस्कार की आशा तथा दण्ड के भय की बात छोड़ कर-चरित्र पर आत्मगत धार्मिक भावनाओं के द्वारा तथा उन्हीं के अनुसार प्रभाव पडता है। स्वार्थ-भाव से रहित होने की दशा में प्रमाणिकता का विचार बराबर मस्तिष्क में बना रहता है। किन्तु इन्द्रियातीत आचार-शास्त्रियों का ख्याल है कि यदि हम इस प्रमाणिकता का आधार मस्तिष्क से बाहर नहीं मानेंगे तो यह प्रमाणिकता कायम नहीं रहेगी। यदि कोई मनुष्य अपने दिल में कहने लगे कि जो चीज मुझे रोक रही है तथा जिसे मैं अपना अन्त करण कहता हूं मेरे ही मस्तिष्क की भावना मात्र है तो यह नतीजा निकाल सकता है कि जब यह भावना नष्ट हो जायगी तो मैं उसके अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य नहीं रहूगा। इस कारण ऐसा मनुष्य अन्तरात्मा की उपेक्षा करने तथा उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करेगा। किन्तु क्या यह खतरा उपयोगितावाद तक ही सकुचित है। क्या नैतिक फर्ज या कर्तव्य का आधार मस्तिष्क से बाहर मान लेने के विश्वास से ही हमारी एतद् सम्बन्धी भावना इतनी दृढ़ हो जायगी कि फिर हम उससे छुटकारा न पा सकेंगे। किन्तु यह बात नहीं है। सारे आचार-शास्त्री इस बात को मानते हैं तथा इस बात पर खेद प्रगट करते हैं कि अधिकतर मनुष्य बहुत आसानी से अपने अन्त करण को चुप कर सकते हैं। उपयोगितावाद को मानने वालों के समान वे मनुष्य भी, जिन्हों ने कभी उपयोगितावाद के विषय में कुछ नहीं सुना है,

बहुधा प्रश्न करते हैं, "क्या मुझे अपनी अन्तरात्मा का आदेश मानना चाहिये ?" यदि वे मनुष्य भी, जिनकी अन्तरात्मा इतनी कमजोर पड़ गई है कि ऐसा प्रश्न उठाते हैं, इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में देते हैं और अपने कर्तव्य का पालन करते हैं तो इसका कारण उनका इन्द्रियातीत सिद्धान्त (Transcendental Theory) में विश्वास नहीं है वरन् इसकी वजह यह है कि वे बाह्य कारणों से जिनका विवेचन किया जा चुका है ऐसा करना ठीक समझते हैं।

इस समय इस बात का निर्णय करना आवश्यक नहीं है कि कर्तव्य की भावना नैसर्गिक है या कृत्रिम। नैसर्गिक मानने की दशा मे प्रश्न उठता है कि कुदरती तौर से इस भावना का सम्बन्ध किन किन बातों से है ?

नैसर्गिक मानने वाले तत्त्वज्ञानी इस विषय पर एकमत हैं कि नैसर्गिक भाव का संबंध आचार विषयक सिद्धान्तों ही से होता है, एतद् सम्बन्धी छोटी छोटी बातों से नहीं। यदि कोई भी भाव नैसर्गिक होता है तो इस बात की पुष्टि में कोई कारण नहीं दिया जा सकता कि वह नैसगिर्क भाव दूसरों के सुख दुःख के सम्बन्ध में नहीं हो सकता। यदि आचार विषयक किसी सिद्धान्त को मानने की प्रेरणा नैसर्गिक हो सकती है तो वह इसी सिद्धान्त की-अर्थात् दूसरों के दुःख का विचार रखने ही की हो सकती है। यदि नैसर्गिक आचार-नीति आचार शास्त्र की उस ही बात को बताने लगे जिस को उपयोगितात्मक आचार शास्त्र मानता है, तो फिर इन दोनों में आगे कुछ भी झगड़ा नहीं रहेगा। किन्तु मौजूदा हालत में भी, यद्यपि नैसर्गिक आचार-शास्त्री दूसरे मनुष्यों के सुख दुःख का विचार रखने की भावना ही को

एक मात्र नैसर्गिक भावना नहीं मानते हैं किन्तु फिर भी इस प्रकार की भावना को—अर्थात् दूसरों के सुख दुःख के विचार को—एक नैसर्गिक भावना अवश्य मानते हैं। वे एक मत होकर कहते हैं कि आचारयुक्त अधिकांश कार्यों में दूसरों के लाभ ही का ख्याल रहता है। इस कारण नैतिक कर्तव्य की उत्पत्ति अनीतात्मक मानने के विश्वास से यदि आन्तरिक प्रमाणिकता को किसी प्रकार की और अधिक पुष्टि मिलती है तो मेरे विचार में उपयोगितात्मक सिद्धान्त को भी इस का लाभ पहुंच रहा है।

इसके विपरीत यदि नैतिक भावनायें नैसर्गिक न हों वरन् अर्जित हों, जैसा कि मेरा भी विश्वास है, तो भी अर्जित होने के कारण से इन भावनाओं को कम स्वाभाविक नहीं समझना चाहिये। मनुष्य के लिये बोलना, तर्क करना, शहर बनाना तथा जमीन जोतना बोना स्वाभाविक हैं, यद्यपि ये सब शक्तियां अर्जित हैं। इन अर्जित शक्तियों के समान नैतिक भावना भी, हमारी प्रकृति का अंग नहीं है, किन्तु इनके समान ही हमारी प्रकृति से स्वाभाविकतया उत्पन्न होती है तथा इन शक्तियों के समान ही, किन्तु कुछ कम अंश मे, स्वतः उत्पन्न होकर संस्कृति द्वारा बहुत कुछ विकसित की जा सकती है। अभाग्यवश बाह्य कारणों का काफ़ी प्रभाव पड़ने से तथा आरंभिक संस्कारों की वजह से नैतिक भावना प्रत्येक दिशा मे मुड़ सकती है। अतः उन प्रभावों के द्वारा नैतिक शक्ति को इतना मजबूत बनाया जा सकता है कि अन्तःकरण के समान ही यह शक्ति मनुष्य के मस्तिष्क पर अपना आधिपत्य जमा सकती है। मानुषिक प्रकृति मे उपयोगितात्मक सिद्धान्त का भाव नैसर्गिक न होने पर भी इस सिद्धान्त का भाव उत्पन्न तथा विकसित कराया जा

सकता है—इस विषय में सन्देह करना अनुभव के बिल्कुल विपरीत जाना है।

किन्तु मानसिक संस्कृति बढने पर शिक्षा द्वारा उत्पन्न किये हुवे पूर्णरूप से कृत्रिम नैतिक भावों के (Arbitrary) प्रतीत होने पर उपयोगितात्मक कर्तव्य की भावना के धीरे धीरे लुप्त हो जाने की आशंका है। इस कारण ऐसे शक्ति-शाली स्थायी भाव होने चाहियें जिनके कारण हम को कर्तव्य की भावना नैसर्गिक प्रतीत हो तथा इस स्थायी भाव को केवल दूसरों ही मे नहीं वरन् अपने में भी बढाने की ओर रुचि हो। सारांश यह कि उपयोगितात्मक आचार शास्त्र के लिये स्थायी भाव का भी एक नैसर्गिक आधार होना चाहिये।

इस प्रकार के प्राकृतिक स्थायीभाव का आधार है और वह दृढ आधार मनुष्य जाति की सामाजिक भावना अर्थात् मनुष्य को अन्य मनुष्यों के साथ सम्बद्ध रहने की इच्छा है। मनुष्य-प्रकृति मे इस समय ही यह इच्छा बहुत अन्श में विद्यमान है तथा सभ्यता की बढ़ती के साथ २ स्वयमेव ही अधिकाधिक होती जाती है। मनुष्य को सामाजिक दशा इतनी अधिक प्राकृतिक तथा इतनी अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है कि सदैव अपने आपको समाज का सभ्य ही समझता रहता है। असाधारण परिस्थितियों की या उस समय की ओर बात है जब कि मनुष्य किसी कारण से जान बूझ कर समाज से पृथक् होने की चेष्टा करता है। ज्यूं २ मनुष्य वर्बर अनपेक्षता की दशा से दूर होता जायगा, सामाजिक बन्धन भी अधिक दृढ होता जायगा। अब देखना चाहिये कि मनुष्य किस दशा में समाज में रह सकते हैं। स्वामी और

सेवक के सम्बन्ध को छोडकर मनुष्य उसी दशा में समाज में रह सकते हैं जब कि सब मनुष्यों के हिताहित का ध्यान रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त और किसी आधार पर समाज का स्थिर रहना दखती आखों असम्भव प्रतीत होता है। समान मनुष्यों का मेल इसी समझौते पर रह सकता है कि सब मनुष्यों के हित की ओर बरावर ध्यान दिया जायगा। सभ्यता की प्रत्येक दशा में, अनियन्त्रित शासक को छोड़ कर, प्रत्येक मनुष्य के समान अन्य मनुष्य भी रहते हैं। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अन्य मनुष्यों के साथ बराबरी का सम्बन्ध रखने के लिये विवश होना पड़ता है। दिन प्रति दिन हम ऐसी दशा के निकटतर पहुंचते जा रहे हैं जब सदैव के लिये किसी मनुष्य के साथ बराबरी के अतिरिक्त और किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना असम्भव होजायगा। इस कारण दिन प्रतिदिन हमको दूसरों के हित की बिल्कुल उपेक्षा का विचार कल्पनातीत प्रतीत होता जा रहा है। हम एक दूसरे के साथ काम करना सीखते जा रहे हैं तथा अपने कामों का उद्देश्य व्यक्तिगत हित के स्थान मे सामाजिक हित (कम से कम इस समय के लिये) बताने लगे हैं। जब तक हम दूसरों के साथ काम करते रहेंगे तथा हमारे और उनके उद्देश्य एक रहेंगे उस समय कम से कम यह क्षणिक भावना अवश्य उत्पन्न होजायगी कि दूसरों का हित हमारा ही हित है। सामाजिक बन्धनों के दृढ़ होने तथा समाजके उन्नतावस्था को प्राप्त होने से दूसरों के सुख का ध्यान रखने की ओर केवल हमारी अधिक अभिरुचि ही नहीं हो जायगी वरन् हमारी भावनाएं उनकी भलाई के रंग मे रंग जायेंगी। कम से कम व्यवहार रूप में दूसरों की भलाई का

बहुत अधिक विचार रखने लगेंगी। अन्य शारीरिक आवश्यकताओं के समान ही दूसरों की भलाई का ध्यान रखना भी स्वाभाविक तथा आवश्यक प्रतीत होने लगेगा। अस्तु। चाहे मनुष्य में इस प्रकार की भावना कितने ही अश मे क्यो न हो, वह लाभ तथा सहानुभूति के प्रयोजन से इस भावना को प्रगट करने के लिये उत्तेजित होता है तथा यथाशक्ति दूसरों में इस प्रकार की भावना को उत्तेजित करता है। यदि किसी मनुष्य में इस प्रकार की भावना बिल्कुल भी न हो तो ऐसा मनुष्य भी यह चाहेगा कि अन्य मनुष्यों में इस प्रकार की भावना पैदा हो। इन सब कारणों से इस भावना का छोटे से छोटा अंकुर भी जड़ जमा लेगा तथा शिक्षा की बढ़ती के साथ २ विकसित अवस्था को प्राप्त हो जायगा। बाह्य जबरदस्त कारण (Powerful external sanctions) इस भावना का अनुमोदन करते रहेंगे। सभ्यता की बढ़ती के साथ २ मानुषिक जीवन को इस रूप में देखना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता जायगा। प्रत्येक राजनैतिक उन्नति के साथ २ अर्थात् हित-विरोध के कारणों के दूर होने तथा कानूनी रियायतों के कारण फैली हुई भिन्न २ व्यक्तियों तथा भिन्न २ जमातों की असमानता को मिटाने से, जिस के कारण बहुत से मनुष्यों के सुख की उपेक्षा करना अब भी संभव है, उपरोक्त भावना को प्राकृतिक समझना और भी अधिक सभव होता जा रहा है। ऐसे प्रभाव बराबर बढ़ते जा रहे हैं जिन के कारण प्रत्येक में यह भावना—कि मैं तथा शेष मनुष्य एक हैं—जड़ जमाती जा रही है। इस प्रकार की भावना जब पूर्णता को प्राप्त हो जायगी तो मनुष्य कभी ऐसे काम नहीं सोचेगा या

ऐसे काम को करने की कभी इच्छा नहीं करेगा जिस से उसके लाभ के अतिरिक्त और किसी का लाभ न होता हो। अब यदि हम मान लें कि एकता की इस भावना को धर्म के समान सिखाया जायगा तथा शिक्षा, संस्थाओ और लोक-मत से इस भावना को दृढ़ करने मे यथासंभव सहायता ली जायगी जैसी कि किसी समय में धर्म के लिये ली जाती थी तथा प्रत्येक मनुष्य बचपन ही से इस भावना का प्रचार तथा कार्यरूप मे व्यवहार देखेगा तो मेरे ख्याल मे किसी मनुष्य को—जो इस प्रकार की स्थिति की कल्पना को समझ सकता है—सुखवादी सदाचार की अन्तिम सनद के काफी जोरदार होने मे सन्देह नहीं रहेगा। आचार-शास्त्र के जिन विद्यार्थियो के लिये इस प्रकार की स्थिति को ठीक २ समझना कठिन मालूम पड़े उन्हें कान्ट की (System de Politique Positive) नामक पुस्तक पढनी चाहिये। जिन मनुष्यों की मानसिक भावनाएं उपयोगितात्मक आचार शास्त्र को मानने की ओर प्रवृत्त करती हैं उनको उस समय की प्रतीक्षा करते रहने की आवश्यकता नहीं है जब कि सामाजिक प्रभाव इस प्रकार के होजाएंगे कि अधिकांश समाज इस सिद्धान्त को मानने की ओर प्रवृत्त होने लगेगा। समाज उन्नति की आधुनिक आदिम अवस्था में मनुष्य के दिल में दूसरों के प्रति सहानुभूति का भाव इतना गहरा नहीं हो सकता कि जन साधारण के हित के विपरीत कार्य करना उसके लिये असम्भव ही होजाय। किन्तु आधुनिक स्थिति में भी कोई मनुष्य, जिसके दिल में समाज के विचार ने कुछ भी स्थान जमा लिया है, यह नहीं ख्याल कर सकता कि शेष मनुष्य सुख प्राप्ति के उद्देश्य में मेरे प्रतिद्वन्दी हैं तथा मेरी उद्देश्य

सिद्धि के लिये उनकी अक्रनकार्यता आवश्यक है। अब प्रत्येक मनुष्य अपने आपको समाज का एक सभ्य समझने लगा है और इस कारण अब प्रत्येक मनुष्य के हृदय में इस प्रकार के विचार स्वाभाविक रूप से स्थान जमाते जारहे हैं कि मेरी और अन्य मनुष्यों की भावनाओं तथा उद्देश्यों में समानता हो। यदि मत-विपरीतता तथा मानसिक संस्कृति के भेद के कारण एक मनुष्य की भावनायें अन्य मनुष्यों की बहुत सी भावनाओं से नहीं मिलतीं तथा कभी २ एक आदमी दूसरे आदमियों की बहुत सी भावनाओं को दूषित बताता है तथा उनका खण्डन करता है, किन्तु फिर भी उसको ध्यान रहता है कि उसके तथा अन्य मनुष्यों के उद्देश्य परस्पर-विरोधी नहीं हैं तथा वह जो कुछ कर रहा है अन्य मनुष्यों की भलाई के लिये ही कर रहा है उनकी बुराई के लिये नहीं। कुछ मनुष्यों में इस प्रकार की भावना बहुत कम मात्रा मे होती है। स्वार्थ का ध्यान अधिक बना रहता है। कुछ मनुष्यों में इस प्रकार की भावना बिल्कुल भी नहीं होती। किन्तु जिन मनुष्यों मे इस प्रकार की भावना होती है, उन्हें यह भावना नैसर्गिक ही प्रतीत होती है। वे यह नहीं समझते कि शिक्षा के कारण उनके मस्तिष्क में इस प्रकार के मूढ विश्वास (Superstition) ने स्थान कर लिया है। उनकी यह भी धारणा नहीं होती कि इस प्रकार की भावना समाज के नादिरशाही शासन का प्रभाव है। वे यही समझते है कि इस प्रकार की भावना का होना उचित ही है। इस प्रकार का निश्चय ही अधिक प्रसन्नतात्मक आचरण का अन्तिम हेतु या दलील है। इस ही निश्चय के कारण सुविकसित भावनाओं वाला मनुष्य दूसरों के हित का ध्यान रखता हुआ कार्य करता है। उनके हित की अवहेलना नहीं करता। बाहरी हेतुओं से

भी, जिनका अभी वर्णन किया जा चुका है, ऐसा होता है। बाहरी हेतुओं की अनुपस्थिति तथा विपरीत लेजाने की दशा में यह निश्चय ही मार्ग से विचलित नहीं होने देता है। भिन्न २ मनुष्यों में उनकी प्रकृति के अनुसार इस प्रकार के निश्चय की शक्ति कम या अधिक अवश्य होती है किन्तु उन मनुष्यों के अतिरिक्त, जिन मे नैतिक विचारों का बिल्कुल ही अभाव है, ऐसा आदमी कोई ही होगा जो केवल अपने मतलब ही से मतलब रक्खे और बिना मतलब के दूसरों के हित की ओर बिल्कुल भी ध्यान न दे।
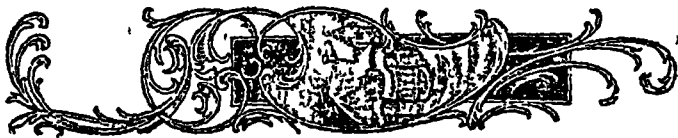
चौथा अध्याय ।

उपयोगिता के सिद्धान्त की पुष्टि में किस प्रकार का प्रमाण दिया जासकता है ।
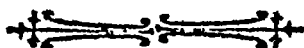
यह पहिले भी बताया जा चुका है कि अन्तिम उद्देश्यों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का साधारण अर्थ में प्रमाण नहीं दिया जा सकता । सारे मूल सिद्धान्त, विज्ञान (Knowledge) तथा आचार के मूल पूर्वावयव (First Premises) हेतु देकर प्रमाणित नहीं किये जासकते । किन्तु मूलसिद्धान्त वास्तविकता लिये होते हैं, इस कारण वास्तविकता को परखने वाली शक्तियों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों तथा आन्तरिक चेतना के द्वारा उनका निर्णय हो सकता है । क्या प्रक्रियात्मक उद्देश्यों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का भी ज्ञानेन्द्रियों तथा आन्तरिक चेतना के द्वारा निर्णय हो सकता है ? या और किस प्रकार उनकी वास्तविकता जाची जा सकती है ?

उद्देश्यो से सम्बन्ध रखने वाले विषय दूसरे शब्दों मे इस बात के प्रश्न होते हैं कि क्या २ चीजे इष्ट हैं। उपयोगितावाद का सिद्धान्त यह है कि—सुख इष्ट है तथा उद्देश्य की दृष्टि से एकमात्र सुख ही इष्ट है। अन्य सारी वस्तुएं इस उद्देश्य-प्राप्ति मे सहायक होने ही के कारण इष्ट है। अब प्रश्न उठता है कि इस सिद्धान्त के पोषक क्या बात प्रमाणित करे कि जिससे और लोग भी इस सिद्धान्त को मानलें।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने का एक मात्र माननीय प्रमाण यही दिया जा सकता है कि आदमी वास्तव में उसे देखते है। किसी ध्वनि के श्रोतव्य होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि आदमी उसे सुनते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु के इष्ट होने का एक मात्र प्रमाण यही दिया जा सकता है कि मनुष्य उस वस्तु को वास्तव मे चाहते हैं। सर्व साधारण का सुख क्यों इष्ट है?—इस बात का सिवाय इसके और कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि प्रत्येक मनुष्य अपने सुख का यथा-सम्भव इच्छुक रहता है। यह एक वास्तविक बात है। इस कारण यही प्रमाण है जो दिया जा सकता हे कि सुख अच्छा है। प्रत्येक मनुष्य का सुख उस मनुष्य के लिये अच्छा है। और इस कारण सर्व साधारण का सुख सब मनुष्यो के समाज के लिये अच्छा है। सुख आचार का एक उद्देश्य है और इस कारण आचार-युक्तता का एक निर्णायक है।

किन्तु इतने ही से सुख आचारयुक्तता का एकमात्र निर्णायक प्रमाणित नहीं हो जाता। इस बात को प्रमाणित करने के लिये इस ही नियम के अनुसार यह दिखाना आवश्यक है कि मनुष्य केवल सुख ही को नहीं चाहते हैं

वरन् सुख के अतिरिक्त वे कभी किसी और वस्तु की कामना नहीं करते। अब यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य बहुतसी ऐसी चीज़ों की कामना करते हैं जो साधारण भाषा में सुख से भिन्न है। उदाहरणात. मनुष्य ठीक उसी प्रकार पुण्य या नेकी (Virtue) की कामना करते हैं तथा बदी से बचना चाहते हैं जिस प्रकार सुख की कामना करते हैं तथा दुःख से बचना चाहते हैं। पुण्य की कामना सुख की कामना के समान सार्वलौकिक नहीं है, किन्तु सुख की कामना के समान ही पुण्य की कामना का होना भी निर्विवाद है। इस कारण उपयोगितात्मक आदर्श के विरोधी कहते हैं कि हमको यह परिणाम निकालने का अधिकार है कि सुख के अतिरिक्त मानुषिक कार्यों के और भी उद्देश्य होते हैं और इस कारण उपयोगिता की कसौटी से ही किसी काम को करने या न करने के योग्य नहीं ठहराया जा सकता।

किन्तु क्या उपयोगिता का सिद्धान्त कहता है कि मनुष्य पुण्य की कामना नहीं करते? बिल्कुल इससे उल्टी बात है। उपयोगितावाद का कहना है कि पुण्य की कामना ही नहीं करनी चाहिये वरन् निष्काम होकर पुण्य की कामना करनी चाहिये। उपयोगितावादी आचार-शास्त्रियों की इस विषय में, कि कोई पुण्य कार्य आरम्भ में किस प्रकार पुण्य का कार्य बन गया, कोई सम्मति क्यों न हो तथा चाहे उनका कैसा ही यह विश्वास हो (जैसा कि है भी) कि कोई कार्य या मनोवृत्ति इस ही कारण धार्मिक है क्योंकि उससे पुण्य या नेकी (Virtue) के अतिरिक्त किसी और उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायता मिलती है, किन्तु इस प्रकार किसी कार्य के धार्मिक या अधार्मिक होने का निर्णय कर लेने पर उपयोगितावादी नेकी

अर्थात् धर्म कार्य या पुण्य कार्य को अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता देने वाले पदार्थों में केवल सब से ऊंचा स्थान ही नहीं देते हैं वरन् उनका विचार है कि मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में इस प्रकार की भावना का होना सम्भव है कि वह नेकी या पुण्य को बिना किसी और उद्देश्य को ध्यान में रखते हुवे स्वत. अच्छा समझे। उपयोगितावादी लोगों का यह भी कहना है कि जब तक इस प्रकार की भावना नहीं आती है अर्थात् मनुष्य नेकी को इस प्रकार प्यार नहीं करता है, उस समय तक उस मनुष्य का मस्तिष्क ही ठीक दशा में नहीं है। उस मनुष्य का मस्तिष्क उस दशा को प्राप्त नहीं हुवा है जिस दशा को प्राप्त होना सार्वजनिक हित की दृष्टि से अत्यावश्यक है। इस प्रकार की सम्मति सुख के सिद्धान्त के बिल्कुल भी विरुद्ध नहीं है । सुख के बहुत से साधन हैं। प्रत्येक साधन, केवल सुख-राशि बढ़ाने की दृष्टि से ही नहीं, वरन् स्वतः इष्ट है। उपयोगिता के सिद्धान्त का यह मतलब नहीं है कि कोई आनन्द जैसे गायन या दु ख से मुक्ति जैसे स्वास्थ्य केवल इस ही कारण इष्ट होने चाहिये क्योंकि वे किसी समष्टिरूप पदार्थ प्रसन्नता के साधन हैं। गायन तथा स्वास्थ्य स्वत इष्ट हैं और होने चाहियें क्योंकि उद्देश्य के साधन होने के अतिरिक्त उद्देश्य का एक भाग भी हैं । उपयोगितावाद के सिद्धान्त के अनुसार नेकी या पुण्य स्वाभाविकतया तथा आरम्भ से तो उद्देश्य का भाग नहीं हैं किन्तु उद्देश्य का भाग बन सकते हैं। जो लोग नेकी को निष्काम रूप से प्यार करते हैं उन मनुष्यों के लिये नेकी उद्देश्य का भाग होगई है। ऐसे लोग अपने सुख का एक भाग समझने के कारण ही नेकी या पुण्य की आकाङ्क्षा करते हैं। वे लोग नेकी को सुख का साधन नहीं समझते हैं ।

इस बात को और अधिक अच्छी तरह समझने के लिये हमको यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि केवल नेकी या पुण्य ही आरम्भ में उद्देश्य का साधन होने पर बाद में उद्देश्य का भाग नहीं बन गये हैं। उदाहरण के लिये धन की लालसा ही को ले लीजिये। धन का यही मूल्य है कि उसके द्वारा और चीजें खरीदी जासकती हैं। इस कारण आरम्भ मे धन की इच्छा उन वस्तुओं की इच्छा के कारण होती हैं जो उस धन द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। इस कारण धन हमारी इच्छा-पूर्ति का एक साधन है। किन्तु धन की लालसा केवल उन बातों के अन्तर्गत ही नहीं है जिनका मानुपिक जीवन में बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, वरन् बहुतसी दशाओं मे धनी होनेके एकमात्र विचार से ही बहुत से मनुष्य धन की भावना करते हैं। धन का प्रयोग करने की अपेक्षा धन का स्वामी बनने की कामना अधिक बलवती होती है। इस कारण यह कहना ग़लत नहीं है कि धन की कामना इस कारण नहीं की जाती कि धन किसी उद्देश्य-प्राप्ति का साधन है वरन् धन की कामना इस कारण की जाती है कि धन हमारे उद्देश्य का एक भाग है। आरम्भ मे धन सुख का एक साधन था, किन्तु अब मनुष्य धन को सुख का एक मुख्य अवयव समझने लगा है। यही बात मनुष्यों के और बहुत से इष्ट पदार्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, उदाहरणतया शक्ति या शोहरत। शक्ति या शोहरत मे एक विशेषता है जो धन में नहीं है। वह विशेषता यह है कि शक्ति मिलने या शोहरत पाने के साथ ही साथ हमको तत्क्षण कुछ आनन्द सा प्रतीत होने लगता है। इससे कम से कम ऐसा मालूम अवश्य होता है कि शक्ति तथा शोहरत में आनन्द है।

किन्तु फिर भी मनुष्य स्वभावतया शक्ति तथा ख्याति इस कारण चाहते हैं क्योंकि शक्ति-शाली या प्रसिद्ध होने पर उन्हें अपनी अन्य इच्छाओं की पूर्ति में बड़ी सहायता मिलती है। शक्ति और ख्याति तथा हमारे अन्य इष्ट पदार्थों में इतना घनिष्ट सबंध होने के कारण ही बहुधा मनुष्यों में शक्ति तथा ख्याति की इच्छा इतनी बलवती हो गई है। कुछ मनुष्यों में तो ख्याति तथा शक्ति की इच्छा अन्य सब इच्छाओं से बढ जाती है। इन दशाओं में साधन उद्देश्य का एक भाग बन जाते हैं। केवल साधारण भाग ही नहीं वरन् उन पदार्थों की भी अपेक्षा, जिनके वे साधन हैं, उद्देश्य का अधिक महत्त्वपूर्ण भाग हो जाते हैं। जिस पदार्थ की पहिले इस कारण कामना की जाती थी कि वह सुख—प्राप्ति का एक साधन है, अब उस पदार्थ की ही खातिर कामना की जाने लगती है। उस साधन की प्राप्ति सुख का भाग होने के कारण की जाने लगती है। मनुष्य उस पदार्थ को (जो पहिले साधन था) पाने से ही खुश हो जाता है या अपने आपको खुशी समझने लगता है तथा उस पदार्थ के न मिलने से दुखी हो जाता है या अपने आप को दुखी समझने लगता है। जिस प्रकार सङ्गीत का प्रेम तथा स्वास्थ्य की इच्छा सुख की इच्छा से पृथक् नहीं है, इस ही प्रकार उस पदार्थ की इच्छा भी सुख की इच्छा से भिन्न नहीं है। ये सब बातें सुख में आजाती हैं। ये सुख की इच्छाके कुछ तत्त्व हैं। सुख अमूर्त भावना (Abstract idea) नहीं है, वरन् मूर्त साकल्य (Concrete whole) है और ये उस के भाग है। इनका इस प्रकार होना उपयोगितावाद के आदर्श के अनुसार है। जीवन बहुत ही शुष्क हो जाता तथा सुख के अवसर बहुत ही

कम हो जाते यदि वे वस्तुयें, जो आरम्भ मे उदासीन थीं किन्तु हमारी आरम्भिक इच्छाओं की पूर्ति की ओर लेजाने वाली थीं, बाद में स्वयं ही आरम्भिक आनन्दों की अपेक्षा आनन्द के अधिक मूल्यवान् उद्गार—आधिक्य तथा जीवन काल में नित्यता दोनों के विचार से—न बन जातीं।

उपयोगितावाद की विभावना के अनुसार नेकी या पुण्य इस प्रकार की अच्छी चीज है। आरम्भ में नेकी या पुण्य की एकमात्र इस ही कारण कामना थी कि नेकी या पुण्य सुख की ओर लेजाता है तथा विशेषतया दुःख से बचाता है। किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध होने के कारण नेकी स्वयं ही अच्छी समझी जासकतीहै तथा नेकी की भी इतनी ही प्रबल इच्छा हो सकती है जितनी किसी अन्य अच्छी चीज़ की। नेकी में तथा धन, शक्ति तथा ख्याति की लालसा मे इतना अन्तर है कि धन आदि की लालसा के कारण मनुष्य अपने समाज को हानि पहुँचा सकता है जैसा कि बहुधा देखने में भी आया है। किन्तु मनुष्य जितना लाभ समाज को नेकी (Virtue) के निष्काम प्रेम के कारण पहुंचा सकता है, उतना किसी और प्रकार नही पहुंचा सकता। इस कारण उपयोगितावाद के आदर्श के अनुसार धन आदि की लालसा उस सीमा तक ठीक है जब तक कि इस प्रकार की लालसा से सार्वजनिक सुख की वृद्धि हो तथा सार्वजनिक हित के मार्ग में रुकावट न पड़े। किन्तु उपयोगितावाद का कहना है कि नेकी की इच्छा जितनी अधिक बढ सके उतना ही अच्छा है क्योंकि नेकी की इच्छा सार्वजनिक सुख के लिये सब से अधिक आवश्यक है।

इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि सुख के अतिरिक्त और कोई चीज इष्ट नहीं है। अन्य वस्तुवें सुख का साधन होने के कारण इष्ट हैं। जिन वस्तुवों की स्वतः उन वस्तुओं की खातिर ही इच्छा है वे वस्तुवें सुख का एक भाग हैं। जब तक कोई वस्तु सुख का भाग नहीं बन जाती तब तक उस वस्तु की उस वस्तु की खातिर इच्छा नहीं होती। जो मनुष्य नेकी की नेकी ही के विचार से कामना करते हैं वे इस प्रकार की कामना इन दो कारणो में से किसी कारण की वजह से करते हैं। या तो उन्हें अपने नेक होने का ध्यान आने से सुख मिलता है या अपने नेक न होने का ध्यान आने से दु ख प्राप्त होता है। या उपरोक्त दोनों कारणों की वजह से भी इस प्रकार की कामना हो सकती है क्योंकि वास्तव में सुख तथा दु.ख पृथक् २ कभी ही रहते हैं, नहीं तो सदैव साथ ही साथ देखे जाते हैं। कोई मनुष्य कतिपय अंश में नेक होने के विचार से आनन्द अनुभव कर सकता है तथा अधिक नेक न होने के विचार से दु ख अनुभव कर सकता है। यदि इन में से किसी कारण से उसे सुख या दु ख अनुभव न हो तो वह नेकी की कामना नहीं करेगा। यदि कामना करेगा भी तो इस विचार से कि नेकी के कारण मुझे या मेरे प्रेमपात्र अन्य मनुष्यों को अन्य लाभ पहुंच सकते हैं।

अब हम ने इस प्रश्न का—कि उपयोगितावाद के सिद्धान्त का किस प्रकार का प्रमाण दिया जा सकता है—उत्तर दे दिया है। यदि मेरी उपरोक्त सम्मति मनो-विज्ञान के अनुसार ठीक है—अर्थात् यदि मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह किसी ऐसी वस्तु की कामना नहीं करता जो सुख का भाग अथवा सुख का साधन नहीं होती—तो हम इस बात की पुष्टि मे—कि केवल ये

ही चीजें इष्ट हैं—और कोई प्रमाण नहीं दे सकते और न कोई और प्रमाण देने की आवश्यकता ही है।

अब इस बात का निर्णय करना चाहिये कि क्या वास्तव में ऐसा ही होता है ? अर्थात् क्या मनुष्य जाति केवल उसी वस्तु को कामना करती है कि जिससे उसको सुख मिलता है या दुःख का अभाव होता है। प्रत्यक्ष ही में यह प्रश्न अनुभव का प्रश्न है। इस प्रकार के प्रश्नों का निर्णय साक्षी पर ही होता है। इस कारण यह बात जानने के लिये कि क्या वास्तव में वैसा ही होना है जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, हमको अपने अनुभव तथा अपनी निरीक्षा (Ovservation) को काम में लाना चाहिये तथा दूसरों के निरीक्षण से सहायता लेनी चाहिये। मेरा विश्वास है कि यदि निष्पक्षपात होकर अपने अनुभव तथा निरीक्षण से काम लिया जायगा तो यह बात माननी पड़ेगी कि किसी वस्तु की इच्छा करना तथा उसे रुचिकर अनुभव करना तथा किसी वस्तु से घृणा करना और उसके कष्टप्रद होने की कल्पना करना—ये दोनों बातें—एक दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं। ये दोनों बातें एक ही वस्तु के दो रुख हैं या दार्शनिक भाषा में एक ही मनो-वैज्ञानिक घटना का नाम रखने के दो तरीके हैं। किसी चीज़ को इष्ट समझना (उसके परिणामों के विचार से इष्ट समझें तो दूसरी बात है) तथा उस वस्तु को सुखद समझना—ये दोनों—एक ही बात हैं। किसी वस्तु को सुखद न समझते हुवे उस वस्तु की इच्छा करना भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार से असम्भव हैं। यह बात मुझको इतनी साफ मालूम पड़ती है कि मेरे विचार में इस पर कोई भी आक्षेप नहीं करेगा। कोई आदमी यह

नहीं कहेगा कि किसी वस्तु के सुखद होने तथा उसके अभाव के दुखद होने के अतिरिक्त और भी किसी कारण से उस वस्तु की इच्छा की जासकती है। हा इस प्रकार का आक्षेप होना सम्भव है कि आकाक्षा (Will) इच्छा (Desire) से भिन्न है। बहुत से नेक मनुष्य अर्थात् सन्त या ऐसे मनुष्य जिनके उद्देश्य निश्चित हैं अपने उद्देश्य की पूर्ति ही मे लगे रहते हैं। वे इस बात का ध्यान नहीं करते कि ऐसा करने से हमे आनन्द मिल रहा है या हमें अन्त मे आनन्द मिलेगा। वे तो अपने उद्देश्य की पूर्ति ही का ध्यान रखते हैं चाहे इसमें उनको अपने सुखों की कुर्बानी करनी पड़े चाहे उनको अनेक आपदाओं का सामना करना पड़े। ये सब बातें मैं पूर्ण रूप से मानता हूं। इस बात का मैंने कहीं उल्लेख भी किया है। आकांक्षा इच्छा से भिन्न है। अकांक्षा (Will) क्रियावान विकृति है तथा इच्छा (Desire) निष्क्रिय संवेतृता (Passive Sensibility) है। यद्यपि आरम्भ में आकाक्षा इच्छा ही की शाखा है किन्तु समय पाकर जड जमा सकती है तथा इच्छा से भिन्न रूप धारण कर सकती है। इस कारण अभ्यस्त उद्देश्य की दशा में हम उस चीज़ की इस कारण आकाक्षा नहीं करते क्योंकि हम उसकी इच्छा रखते हैं वरन् बहुधा हम उसकी इस ही कारण इच्छा करते हैं क्योंकि हम उसकी आकाक्षा रखते हैं। यह अभ्यास की शक्ति का एक उदाहरण मात्र है। केवल अच्छे ही कामों में ऐसा नहीं होता है। मनुष्य बहुत सी उदासीन बातों को पहिले इसी प्रकार के उद्देश्य से करते हैं किन्तु फिर उन्हीं बातों को अभ्यास या आदत के कारण करने लगते हैं। कभी २ हम अचेतन रूप से ऐसा कर जाते हैं।

काम कर चुकने के बाद ज्ञान (Consciousness) होता है। कभी २ सङ्कल्प के कारण, जिसका ज्ञान हमें रहता है, ऐसा करते हैं। किन्तु यह सङ्कल्प अभ्यस्त होता है। अभ्यास पड़ जाने के कारण ही इस प्रकार का सङ्कल्प उठने लगता है, अविवेक रुचि के कारण नहीं। यह बात बहुधा उन लोगों में देखने में आती है जिन्हें बुरी लत लग जाती है। तृतीय तथा अन्तिम दशा वह है जब हमारा अभ्यस्त कार्य पूर्व की बहुधा बनी रहने वाली इच्छा के विरुद्ध नहीं होता है वरन् उस इच्छा की पूर्ति ही के लिये होता है। यह बात सन्त लोगों तथा उन मनुष्यों में देखी जाती है जो समझ-बूझ कर किसी निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति में बराबर लगे रहते हैं। आकांक्षा तथा इच्छा का यह भेद प्रमाणिक तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक बात है। किन्तु बात केवल इतनी है—हमारे संस्थान के अन्य सब भागों के समान आकांक्षा अभ्यास पर निर्भर है। जो वस्तु अब हमें स्वतः इष्ट नहीं रही है, हम उसकी आकांक्षा अभ्यास के कारण कर सकते हैं, या केवल इस कारण इच्छा कर सकते हैं क्योंकि हमें उसकी आकांक्षा है। यह बात बिल्कुल ठीक है कि आरम्भ में आकांक्षा पूर्ण रूप में इच्छा से पैदा होती है। इच्छा में कष्ट के प्रभाव से खिंचाव तथा आनन्द की ओर आकर्षण—ये दोनों बातें आगईं। उस आदमी को छोड दो जिसके दिल में ठीक करने की आकांक्षा ने पूरा आसन जमा लिया है। उस आदमी का उदाहरण लो जिसके अन्दर अभी इस प्रकार की आकांक्षा कमजोर हालत में है और जहां इस बात का खटका है कि कहीं प्रलोभन मिलने पर यह आकांक्षा नष्ट न होजाय। इस वजह से आकांक्षा पूर्ण रूप

से विश्वसनीय नहीं है। ऐसी दशा में हम किस प्रकार से ऐसी कमजोर आकांक्षा को दृढ बना सकते हैं? जहा पर नेक होने की आकांक्षा यथेष्ट रूप में नहीं है वहा पर इस प्रकार की आकांक्षा को किस प्रकार उत्पन्न या जागृत किया जा सकता है? केवल इसी प्रकार कि ऐसे मनुष्य के दिल मे नेकी की इच्छा पैदा कराई जाय। इस बात का प्रयत्न किया जाय कि वह नेकी को सुखद तथा उसके अभाव को दुखद समझे। उसके ज़हन में यह बात जमा दी जाय कि सुखद तथा ठीक काम करने का और दुखद तथा ग़लत काम करने का अभेद सम्बन्ध है। उसको यह बात पूर्ण-रूप से अनुभव करादी जाय की नेक काम करने से स्वभावतया सुख होता है तथा बुरे काम करने से दु ख होता है यह सम्भव है कि इस तरह नेकी की इस प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न हो जाय, जिसके एक बार जड जमा लेने पर, आदमी फिर बिना सुख दु.ख का विचार किये हुवे काम करने लगे। आकांक्षा इच्छा का बच्चा है। इच्छा की सीमा से निकल कर आकांक्षा अभ्यास ही की सीमा में आती है। अभ्यास अर्थात् आदत ही के कारण हमारी भावनाओं तथा आचरणों—दोनों-में निश्चयता आती है। यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य परस्पर एक दूसरे की भावनाओं तथा आचरणों पर भरोसा रक्खें तथा प्रत्येक मनुष्य में भी अपनी भावनाओं तथा आचरणों पर भरोसा रखने की क्षमता होनी चाहिये। इस कारण ठीक करने की आकांक्षा को बढाते२ अभ्यास अर्थात् आदत की दशा को पहुचा देना चाहिये। दूसरे शब्दों में आकांक्षा की यह दशा इष्ट (Good) का एक साधन है असली इष्ट नहीं है। इस कारण आकांक्षा की यह दशा इस सिद्धान्त का विरोध नहीं करती कि मनुष्यों

के लिये कोई वस्तु उसी समय तक इष्ट है जब तक कि यातो वह स्वयं सुखद हो या सुख पाने अथवा कष्ट दूर करने का साधन हो।

किन्तु यदि यह मत ठीक है तो उपयोगितावाद का सिद्धान्त भी प्रमाणित होजाता है। यह मत ठीक है या नहीं—इस बात का निर्णय हम विचारशील पाठकों पर छोड़ते हैं।

पांचवां अध्याय।

न्याय से सम्बन्ध

प्राचीन काल से उपयोगिता या सुख को आचार शास्त्र की कसौटी मानने में एक बड़ी रुकावट यह रही है कि क्या ऐसा मानना न्याय-विरुद्ध या अनुचित तो नहीं है। उचित या अनुचित का ख्याल इतने अधिक अंश में रहता है कि बहुत से तत्त्वज्ञानियों का यह विचार होगया है कि वस्तुओं में एक आन्तरिक (Imherent) गुण है जो इस बात को प्रगट करता है कि 'उचित' का प्रकृति में पृथक् अस्तित्व है तथा औचित्य सुखसाधकता से भिन्न है।

अन्य नैतिक स्थायी भावनाओं के समान इस भावना में भी भावना की उत्पत्ति तथा व्यापकता में कोई आवश्यक संबंध नहीं है। केवल किसी भावना के प्रकृति-दत्त होने के कारण ही हमको प्रत्येक दशा में उस भावना का नेतृत्व मानना आवश्यक नहीं हो जाता। उचित का ख्याल एक सहज क्रिया (Instinct) हो सकता है किन्तु फिर भी अन्य सहज क्रियाओं के समान

'उचित' की भावना को उच्चतर विवेक द्वारा समझने तथा वश मे रखने की आवश्यकता हो सकती है। यदि हमारे अन्दर मानसिक सहज क्रियायें हैं जो हमको किसी विशेष रूप से निर्णय करने की प्रेरणा करती है तथा पशु-सहज क्रियायें (Animal instincts) हैं जो किसी कार्य को किसी विशेष प्रकार करने की प्रेरणा करती हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि अन्तिम सहज क्रियाओं की अपेक्षा पहिली सहज क्रियाओं को अपने काम में अधिक अविलुप्तधी अर्थात भूल से रहित (Infallible) होना चाहिये। जिस प्रकार कभी २ पशु सहज क्रियाये ग़लत काम करने की प्रेरणा करती हैं उसी प्रकार मानसिक सहज क्रियायें भी कभी २ गलत निर्णय करने की प्रेरणा कर सकती हैं। यद्यपि यह विश्वास करना कि हमारे अन्दर न्याय या इन्साफ की प्राकृतिक भावनाये हैं तथा इन भावनाओं को आचरण की अन्तिम कसौटी मानना दो भिन्न २ बाते हैं, किन्तु वास्तव मे इन दोनों मतो मे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य जाति का यह पहिले ही से विश्वास रहा है कि कोई आत्म-गत भावना (Subjective feeling)—जिसको हम किसी और तरह से नहीं समझा सकते-किसी अनात्म सम्बन्धी वास्तविकता (Objective reality) का ईश्वरादेश है। इस समय हमारा उद्देश्य इस बात के निर्णय करने का है कि क्या न्याय की भावना ऐसी भावना है जिसके लिये किसी विशेष ईश्वरादेश की आवश्यकता हो? क्या किसी कार्य का न्याय-सगत या न्याय-विरुद्ध होना कोई ऐसी चीज है जो उस कार्य मे विशेष रूप से विद्यमान हो तथा उसके अन्य सारे गुणों से पृथक् हो अथवा न्याय-संगत या न्याय-विरुद्ध होना उस कार्य के कतिपय गुणों का संगठन है जो एक विशेष रूप धारण कर

लेता है। यह बात जानने के लिये इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि क्या न्याय तथा अन्याय की भावना रंग तथा स्वाद की चेतनाओं के समान अव्युत्पन्न है या अन्य भावनाओं के मेल से बनी हुई व्युत्पन्न भावना हैं।

इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये इस बात के जानने का प्रयत्न करना आवश्यक है कि न्याय या अन्याय की क्या पहचान है। न्याय-विरुद्ध समझे जाने वाली तमाम आचरण-पद्धतिओं में क्या कोई सामान्य गुण है जिस से इस बात का पता चल सके कि अमुक आचरण-पद्धतिया न्याय-विरुद्ध होने के कारण नापसन्द की जाती है तथा अमुक आचरण-पद्धतियां अन्य कारणों से ? यदि ऐसा कोई सामान्य गुण है तो वह क्या है ? यदि प्रत्येक बात में जिसे मनुष्य न्याय-संगत या न्याय-विरुद्ध समझते हैं कोई सामान्य गुण या सामान्य गुणों का समुदाय सदैव उपस्थित रहता है तो हम इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि क्या यह सामान्य गुण या गुण-समुदाय उस वस्तु के चारों ओर हमारे मनोविकारों के संगठन के साधारण नियमों के अनुसार उपरोक्त विशेष स्थायी भाव (Sentiment) उत्पन्न कर सकते हैं या इस प्रकार के स्थायी भाव का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता और इस कारण इस को प्रकृति का विशेष प्रबन्ध चाहिये। पहिली बात ठीक निकलने की दशा में तो इस प्रश्न के स्पष्ट होने के साथ २ ही असली समस्या भी स्पष्ट हो जाती है। किन्तु यदि दूसरी बात ठीक निकले तो हम को किसी और उपाय का सहारा लेना होगा।

भिन्न २ वस्तुओं के सामान्य गुणों को मालूम करने के लिये हम को पहिले उन वस्तुओं का निरीक्षण करना पड़ेगा।

इस कारण हमें उन भिन्न २ आचरण-पद्धतियों पर विचार करना चाहिये जिन को सब मनुष्य या अधिकतर मनुष्य न्याय-संगत या न्याय-विरुद्ध मानते हैं।

१. किसी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जायदाद या और कोई चीज़ जिस का वह कानूनन अधिकारी है छीन लेना अधिकतर न्याय-विरुद्ध समझा जाता है। यहां पर न्याय-संगत तथा न्याय-विरुद्ध शब्दों का बिल्कुल सीमा-बद्ध अर्थों में प्रयोग हुवा है। अर्थात् किसी मनुष्य के कानूनी अधिकारों का ध्यान रखना न्याय-संगत है तथा उस के क़ानूनी अधिकारों की अव-हेलना करना न्याय-विरुद्ध है।

किन्तु इस निर्णय में भी न्याय तथा अन्याय के ख्याल को दूसरे रूप में लेने के कारण कई अपवाद हो सकते हैं। उदाहरणातः वह मनुष्य जिस के अधिकार छीन लिये गये हैं उन अधिकारों को खो बैठा हो। इस उदाहरण की हम अभी आगे चल कर व्याख्या करेंगे। किन्तु साथ साथः—

२. ऐसा भी हो सकता है कि वे क़ानूनी अधिकार जो छीन लिये गये हैं ऐसे अधिकार हों जिन का अधिकारी वह मनुष्य होना ही नहीं चाहिये था अर्थात् वह कानून जो उस को वे अधिकार देता है दूषित कानून हो। जब ऐसा हो या जब ऐसा समझा जाय-हमारे मतलब के लिये दोनों बातें एक हैं-तो इस बात पर मतभेद होगा कि इस प्रकार का क़ानून तोडना न्याय-संगत अर्थात् उचित है अथवा न्याय-विरुद्ध अर्थात अनुचित। कुछ विद्वानों की राय है कि किसी नागरिक को कभी भी किसी कानून को भंग नहीं करना चाहिये चाहे वह कैसा ही दूषित क़ानून क्यों न हो। अधिक से अधिक

इतना किया जा सकता है कि अधिकारी वर्ग से उस कानून को बदलवाने का प्रयत्न किया जाय। इस मत के अनुसार बहुत से लब्धप्रतिष्ठ मनुष्य जाति के उपकारक निन्दनीय ठहरते हैं। इस मत के अनुसार भयकर संस्थाए, जिनके नाश करने मे आधुनिक स्थिति में एक मात्र इस ही हथियार के थोड़ा बहुत कृतकार्य होने की आशा हो सकती है, बहुधा रक्षित हो जायेंगी। इस मत के मानने वाले मस्लहत की बिना पर अपने कथन का समर्थन करते हैं। विशेष दलील वह यह देते हैं कि मनुष्य जाति के सार्वजनिक हित के लिये कानून उल्लंघन न करने का भाव बना रहना, आवश्यक है। दूसरे विद्वानों का बिल्कुल इसके विपरीत मत है। उनका कहना है कि यदि कानून अनुचित या मस्लहत के विरुद्ध हो तो उसको तोडने मे कोई दोष नहीं है। बहुत से विद्वान् कहते है कि केवल अनुचित कानूनों ही को तोडना चाहिये। किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि जो कानून मस्लहत के विरुद्ध है वे अनुचित भी हैं। प्रत्येक कानून मनुष्यों की प्राकृतिक स्वतन्त्रता में कुछ बाधा डालता है। जब तक इस बाधा से मनुष्यो का कुछ लाभ न हो यह बाधा अनुचित है। इन भिन्न २ मतों से यह बात सर्व-सम्मत मालूम पड़ती है कि अनुचित कानून भी हो सकते हैं। इस कारण कानून न्याय या उचित का अन्तिम निर्णायक नही हो सकता। कानून किसी आदमी को फायदा पहुंचा सकता है, किसी को हानि। यह बात न्याय के विरुद्ध है। किन्तु जब कभी कोई कानून अनुचित समझा जाता है तो इसी कारण अनुचित समझा जाता है कि उससे किसी व्यक्ति के अधिकार पर व्याघात पहुचता है। उस व्यक्ति के इस अधिकार को, जिस पर कानून व्याघात पहुंचाता है, हम

कानूनी अधिकार तो कह नहीं सकते। इस कारण इस अधिकार को दूसरे नाम से पुकारते है। इस अधिकार को नैतिक अधिकार कहते हैं। इस कारण हम कह सकते हैं कि दूसरा अन्याय या नाइन्साफ़ी उस दशा मे होती है जब हम किसी व्यक्ति का नैतिक अधिकार छीनते हैं।

३. इस बात को सब लोग ठीक या उचित समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को वह चीज मिलनी चाहिये जिसका वह अधिकारी है—चाहे वह चीज अच्छी हो या बुरी। यह बात अनुचित समझी जाती है कि किसी मनुष्य को ऐसा लाभ कराया जाय या ऐसी हानि पहुंचाई जाय जिसका वह अधिकारी नहीं है। साधारणतया मनुष्य उचित या अनुचित अर्थात् न्याय-सगत या न्याय-विरुद्ध अथवा इन्साफ या ना इन्साफ के भाव को इस रूप मे समझते हैं। चूंकि अधिकारी होने का सवाल है, इस कारण प्रश्न होता है कि अधिकारी कैसे होता है? साधारणतया यदि कोई मनुष्य ठीक काम करता है तो वह भलाई का अधिकारी समझा जाता है। यदि ग़लत काम करता है तो बुराई का अधिकारी समझा जाता है। विशेषतया यदि कोई मनुष्य किसी के साथ नेकी करता है तो इस बात का अधिकारी है कि वह मनुष्य भी उसके साथ नेकी करे। इसी प्रकार यदि किसी के साथ बुराई करता है तो इस बात का अधिकारी है कि वह मनुष्य भी इसके साथ बुराई करे। बुराई के बदले भलाई का उपदेश कभी इस बात को दृष्टि में रख कर नहीं किया गया है कि ऐसा करना इन्साफ है। इस प्रकार के उपदेश मे तो अन्य बातों को ख्याल में रखकर इन्साफ की बात को छोड़ दिया जाता है।

निम्न लिखित बातें सब लोग अनुचित समझते हैं—

(१) किसी के साथ विश्वास-घात करना।

(२) किसी (Engagement) को तोड़ना—चाहे स्पष्ट हो या अस्पष्ट।

(३) अपनी बातों या अपने कामों से आशा बंधा कर निराश करना। कम से कम उस समय तो अवश्य ही जब हमने जान-बूझ कर तथा अपनी इच्छा से आशायें बंधाई हों। पूर्वोल्लिखित बातों के समान, जिनका करना न्याय की दृष्टि से हमारा कर्तव्य है, यह बात अनन्य—सम्बन्ध (Absolute) नहीं समझी जाती है। किन्तु न्याय की दृष्टि से हमारा यह कर्तव्य भी हो सकता है कि हम इस बात की अवहेलना करें। अथवा वह मनुष्य जो हम से लाभ पाने की आशा कर रहा है, कोई ऐसा काम कर बैठे कि जिससे फिर हमारा यह कर्तव्य नहीं रहे कि हम उसे लाभ पहुंचावे।

(४) इस बात को भी सब मानते हैं कि पक्ष-पात करना न्याय या इन्साफ़ के विरुद्ध है। ऐसी बातों मे, जहां पक्षपात ठीक नहीं है, किसी मनुष्य को दूसरे मनुष्य पर अकारण तरजीह देना अन्याय या बेइन्साफी समझा जाता है। किन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि पक्षपात-रहित होना इस कारण उचित नहीं समझा जाता है क्योंकि पक्षपात रहित होना ही कर्तव्य है। पक्षपात रहित होने से हम किसी दूसरे कर्तव्य को पूरा करते हैं। इस ही कारण पक्षपात-रहित होना कर्तव्य माना जाता है क्योंकि यह बात मानी हुई है कि विशेष कृपा (Favour) या तरजीह सदैव निन्दनीय नहीं है। वास्तव में वे दशायें जहां पर विशेष कृपा तथा तरजीह निन्दनीय है

अपवादरूप हैं नियम नहीं। यदि कोई मनुष्य अच्छी नौकरी देने मे अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को अजनबियों पर तर-जीह देता है और ऐसा करने मे अपने किसी दूसरे कर्तव्य से च्युत नहीं होता तो ऐसा करने मे कोई हर्ज नहीं है। बल्कि तरजीह न देने की दशा ही में निन्दा होने की अधिक सम्भावना है। किसी विशेष मनुष्य को अपना मित्र, सम्बन्धी या साथी बनाना कोई भी अनुचित या अन्याय नहीं समझा है। जहां अधिकारों का प्रश्न है वहां पर निष्पक्षपात होना बेशक कर्तव्य है। किन्तु निष्पक्षपात होना इस बात के अन्तर्गत आ जाता है कि प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि दूसरे को उस का अधिकार दे। उदाहरणात: न्यायाधीश को पक्षपात हीन होना चाहिये क्योंकि उस का कर्तव्य है कि किसी विवाद-ग्रस्त वस्तु को दोनों पार्टियों में से किसी पार्टी को-बिना किसी अन्य प्रकार का ख्याल किये, उस के अधिकारी को देदे। बहुत सी ऐसी अवस्थायें हैं जहा पर निष्पक्षपात होने का अर्थ एक मात्र अधिकार का ध्यान रखना है। उदाहरणात: न्यायाधीशों, शिक्षकों, माता-पिताओ तथा शासकों को सजा या इनाम देने में निष्पक्षपात होना चाहिये। कतिपय अवस्थाओं में निष्पक्षपात होने का अर्थ यह भी है कि एक मात्र सार्वजनिक हित का ध्यान रक्खा जाय, उदाहरणात: सरकारी नौकरी के लिये उम्मैदवार चुनने मे। संक्षेप यह कि न्याय अर्थात् इन्साफ की दृष्टि से निष्पक्षपात होने का आशय यह है कि जिस स्थान पर जिन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक समझा जाता है वहां पर उन्हीं बातों को ध्यान में रख कर काम करे।

निष्पक्षपातता के ख्याल से करीब करीब मिलता-जुलता 'बराबरी' का ख्याल है। बहुधा 'बराबरी' के ख्याल को ध्यान में रख कर ही 'इन्साफी' या 'बेइन्साफी' का निर्णय किया जाता। बहुत से मनुष्यों का तो यहां तक विचार है कि इन्साफ अर्थात न्याय का विशेष आधार बराबरी का ख्याल ही है। प्रत्येक मनुष्य का विचार है कि न्याय समानता अर्थात् बराबरी चाहता है। यह बात दूसरी है कि कभी कभी मस्लहत के ख्याल से असमानता का वर्ताव आवश्यक हो जाय। जो लोग सब मनुष्यों के समान अधिकार नहीं मानते हैं वे भी इस बात को मानते हैं कि सब मनुष्यों के अधिकारों की समान रक्षा करना न्याय-सगत है। उन देशों में भी जहां गुलामी की प्रथा प्रचलित है कम से कम इतना माना अवश्य जाता है कि स्वामी के समान सेवक के अधिकार भी, जितने कुछ भी हों, रक्षणीय हैं। यदि कोई अदालत स्वामी तथा सेवक दोनों के साथ समान साक्षी का व्यवहार नहीं करती है तो वह अदालत इन्साफ से गिर जाती है। किन्तु साथ ही साथ वे संस्थायें भी अन्यायी नहीं समझी जाती हैं जो गुलामों को कुछ भी अधिकार नहीं देती हैं, क्योंकि उनका ऐसा करना मस्लहत के विरुद्ध नहीं समझा जाता है। जिन मनुष्यों का विचार है कि उपयोगिता के विचार से मत-भेद होना अवश्य है, वे धन के असमान बटवारे को बेइन्साफी नहीं समझते। वे सामाजिक ऊंच नीच को न्याय के विरुद्ध नहीं समझते। किन्तु जिन लोगों का ख्याल है कि धन का असमान बटवारा तथा सामाजिक ऊच नीच मस्लहत के खिलाफ है वे इस प्रकार की बातों को बेइन्साफी समझते हैं। जो मनुष्य सरकार को

आवश्यक समझता है वह इस बात को बेइन्साफी नहीं समझता कि मजिस्ट्रेट को क्यों वे अधिकार देदिये गये हैं जो साधारण मनुष्यों को नहीं हैं। बराबरी का सिद्धान्त मानने वालों में भी मत-भेद है। कुछ साम्यवादियों का कहना है कि समाज के श्रम की पैदावार एक मात्र बराबरी का ध्यान रख कर बांटी जाना चाहिये। दूसरे साम्यवादियों का कहना है कि जिसको सब से अधिक आवश्यकता हो उसे सब से अधिक मिलना चाहिये। कुछ ऐसे साम्यवादी भी हैं जिनका विचार है कि ऐसे मनुष्य को, जो अधिक कठिन काम करता है या जिसकी सेवा समाज के लिये अधिक मूल्यवान है, कुछ अधिक देदेना अनुचित नहीं है। इन सब मतों के समर्थन में दलील दी जा सकती हैं।

न्याय या इन्साफ का शब्द इतने भिन्न स्थानों में व्यवहृत होता है, किन्तु फिर भी यह शब्द यथार्थ नहीं समझा जाता है। इस कारण यह निर्धारित करना कठिन काम है कि वह मानसिक कड़ी कौनसी है जिस ने इन सब भिन्न २ प्रयोगों को बांध रक्खा है। स्यात् इस बात को समझने में न्याय, उचित या इन्साफ शब्द की व्युत्पत्ति से कुछ सहायता मिले। इस कारण इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना चाहिये।

यदि सब नहीं तो भी अधिकांश भाषाओं में 'उचित' शब्द के समानार्थ शब्दों की व्युत्पत्ति से पता चलता है कि आरम्भ में इस शब्द का सम्बन्ध क़ानून या क़ानून के प्रारम्भिक रूप अर्थात् माने हुवे रिवाज से था। अंग्रेजी का 'Just' शब्द 'Justum' से निकला है और 'Justum' 'Jussum' का एक रूप है जिस के अर्थ हैं "वह जिस की

आज्ञा दीगई है।" 'Jus' की भी यही व्युत्पत्ति है । 'Recht' जिस से Right तथा Righetous शब्द बने हैं, कानून का समानार्थक है । फ्रैंच भाषा में La Justice कानूनी अदालत के लिये आता है । यही बात लैटिन तथा ग्रीक भाषाओं मे है । हीब्रू लोग भी ईसा की उत्पत्ति के समय तक कानून क अनुसार बात ही को न्याय-सगत अर्थात् उचित मानते थे । ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योकि हीब्रू लोगों के कानून सब विषयो से—जिन के सम्बंध मे उपदेश की आवश्यकता है—सबंध रखत थे तथा उन लोगों का विचार था कि ये कानून ईश्वर की ओर से हैं । किन्तु अन्य जातिया और विशेषतया यूनानी और रोमन लोग, जिनका ख्याल था कि कानूनों को आरम्भ में मनुष्यों ने बनाया था और अब भी मनुष्य ही बनाते हैं, यह बात स्वीकार करन मे नहीं हिचकते थे कि यह भी सम्भव है कि क़ानून बनाने वाले मनुष्यो ने बुरे कानून बनाये हों । इस प्रकार सब कानूनो का उल्लंघन करना अनुचित नहीं समझा जाने लगा। कवल उन्हीं मौजूदा क़ानूनो का उल्लघन करना अनुचित समझा जाने लगा जिन का होना उचित है । ऐसे कानूनों का उल्लघन करना भी, जो हैं तो नहीं किन्तु जिनका होना उचित है, नामुनासिब समझा जाने लगा । ऐसे कानून भी, जो कानून होने योग्य नहीं समझे जाते थे, अनुचित समझे जाने लगे । इस प्रकार कानूनों के उचित तथा अनुचित की कसौटी न रहने पर भी न्याय के ख्याल के साथ २ क़ानून का ख्याल भी बराबर बना ही रहा ।

यह बात ठीक है कि मनुष्य जाति न्याय या इन्साफ के ख्याल को बहुत सी ऐसी बातों मे भी व्यवहृत करती है जिनका

सञ्चालन क़ानून के द्वारा नहीं होना है और न होना चाहिये। कोई मनुष्य यह नहीं चाहता कि घरेलू जीवन की छोटी २ बातों मे भी कानून दस्तन्दाजी अर्थात् हस्ताक्षेप करे । किन्तु फिर भी प्रत्येक मनुष्य की धारणा है कि हम अपने सब दैनिक कार्य उचित या अनुचित करते हैं। किन्तु यहां पर भी इस बात को उल्लंघन करने का विचार, जो कानून होना चाहिये थी, परिवर्तित रूप मे विद्यमान है । हम सदैव उन कामों के लिये, जिनको हम अनुचित समझते हैं, दण्ड मिलता देखकर प्रसन्न होंगे, यद्यपि हम इस बात को मस्लहत के विरुद्ध समझते हैं कि सदैव इस प्रकार का दण्ड अदालतों के द्वारा दिया जाय। हम यह बात देख कर प्रसन्न होंगे कि उचित आचरण को बढ़ावा दिया जा रहा है तथा अनुचित आचरण को दबाया जा रहा है। यह बात दूसरी है कि हम न्यायाधीश को अन्य मनुष्यों की अपेक्षा इतना निस्सीम अधिकार तथा शक्ति देने से डरें। हम यह देख कर खुश होंगे कि शासक—चाहे वह कोई क्यों न हों-मनुष्यो को उचित कार्य करने के लिये विवश कर रहा है। यदि हम समझते हैं कि कानून द्वारा किसी उचित कार्य का पालन कराना मस्लहत के विरुद्ध या असम्भव है तो हमको बड़ा खेद होता है। हम अनुचित व्यवहार के लियें दण्ड न मिलना बुरा समझते हैं और इस कारण उपरोक्त कमी को पूरा करने के लिये हम अनुचित कार्य करने वाले के प्रति बड़े जोर से अपनी तथा समाज की घृणा प्रकट करते हैं। इस प्रकार न्याय या उचित के भाव के साथ २ क़ानून का बन्धन फिर भी बना ही रहता है। निस्सन्देह कानून तथा न्याय या उचित के सम्बन्ध मे, जिस अर्थ में

उचित शब्द का व्यवहार उन्नत समाज में होता है, बहुत कुछ परिवर्तन हुवा है।

मेरे विचार मे न्याय या उचित के विचार की उपरोक्त उत्पत्ति तथा वर्धमान विकाश का वृत्तान्त बिल्कुल ठीक है। किन्तु अभी तक यह बात साफ नहीं हुई है कि साधारण कर्तव्य तथा नैतिक कर्तव्य मे क्या अन्तर है। वास्तविक बात तो यह है कि दण्ड के विधान का विचार, जो कानून का सार है, केवल अनुचित ही के लिये नहीं होता वरन सब प्रकार के दोषों के लिये होता है। हम कभी किसी बात को ठीक कहते ही नहीं जब तक कि हमारा यह आशय नहीं होता कि ऐसा काम न करने वाले को किसी न किसी प्रकार दण्ड मिलना चाहिये। यदि कानून से ऐसा दण्ड नहीं मिलता तो समाज की सम्मति द्वारा मिलना चाहिये। इस प्रकार भी न हो सके तो ऐसा होना चाहिये कि उस की अन्तरात्मा (Conscience) ही ऐसे काम के लिये उस को लानत मलामत करती रहे। ऐसा मालूम पड़ता है कि साधारण मसलहत तथा आचार नीति में वास्तव मे यहीं से भेद पड़ना आरम्भ होता है। चाहे हम किसी रूप मे कर्तव्य (Duty) की कल्पना क्यो न करे, हमारा यह आशय होता है कि कर्तव्य वह है जिसका पालन करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को विवश करना ठीक हो। जिस प्रकार किसी मनुष्य से जबर्दस्ती कर्जा वापिस लिया जाता है उसी प्रकार उस से जबर्दस्ती कर्तव्य का पालन कराया जा सकता है। जब तक हम यह नहीं समझते कि किसी बातका जबर्दस्ती कराना ठीक है तब तक हम उस बात को कर्तव्य ही नहीं कहते। यह बात दूसरी है कि दूरदर्शिता अथवा अन्य मनुष्यों के हित के विचार से हम किसी

मनुष्य को कर्तव्य-पालन करने के लिये वास्तव में विवश न करें। किन्तु यह बात साफ तौर से समझी जाती है कि यदि हम उस मनुष्य को कर्तव्य पालन के लिये विवश करेंगे तो उस मनुष्य को शिकायत का कोई अधिकार न होगा। इस के विपरीत, बहुत सी ऐसी बातें भी हैं जिन को हम चाहते हैं कि और आदमी करें तथा हम उन बातों को करने के लिये करने वालों, को पसन्द करते हैं या उनकी प्रशंसा करते हैं, किन्तु फिर भी हम यह मानते हैं कि वे आदमी ऐसा करने के लिये विवश नहीं हैं अर्थात ऐसा करना उनका नैतिक कर्तव्य (Moral obligation) नहीं है। ऐसा न करने के कारण हम उन की निन्दा नहीं करते अर्थात् हम इस बात के लिये उन को दण्ड का उचित पात्र नहीं समझते। दण्ड के उचित पात्र होने या न होने का विचार कैसे उत्पन्न हुवा—इसका पता स्यात् आगे चलकर चलेगा, किन्तु मेरा ख्याल है कि निस्सन्देह ठीक या वे ठीक अर्थात गलत' की कल्पना की तह में यह भेद ही काम कर रहा है। हम किसी आचरण को उस सीमा तक गलत समझते हैं या किसी अन्य प्रकार से अपनी अस्वीकृति देते हैं, जिस सीमा तक हम यह समझते हैं कि उक्त काम के लिये दण्ड मिलना चाहिये या नहीं। हम कहते हैं कि ऐसा २ करना ठीक होगा या केवल प्रशंसनीय होगा जब कि हमारी इच्छा होती है कि ऐसा करने के लिये उस मनुष्य को, जिस का इस कार्य से संबन्ध है, इस प्रकार करने के लिये विवश किया जाये, प्रलोभन दिया जाय या जबरदस्ती की जाय।

उपरोक्त बात साधारण आचार नीति तथा मसलहत और प्रशंसनीयता (Worthiness) का भेद बताती है। अभी न्याय

अर्थात इन्साफ और आचारनीति की अन्य शाखाओं का भेद मालूम करना है। आचारशास्त्र के लेखकों ने नैतिक कर्तव्यों के दो भेद किये हैं। एक तो वे कर्तव्य होते हैं जिन को करना यद्यपि आवश्यक है, किन्तु जिन को करने के अवसर हमारी इच्छा पर छोड दिये जाते हैं, जैसे दान या उपकार के काम। दान देना तथा उपकार करना हमारा धर्म है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी विशेष मनुष्य ही को दान दे या उसका उपकार करे तथा किसी निर्धारित समय पर ही ऐसा करें। इस प्रकार के कर्तव्य अपूर्ण कर्तव्य कहे जाते हैं दूसरे वे कर्तव्य होते हैं जिन का पालन करना सदैव आवश्यक होता है। इस प्रकार के कर्तव्यों को पूर्ण कर्तव्य कहते हैं। अधिक नपी तुली दार्शनिक भाषा मे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि पूर्ण कर्तव्य वे होते हैं जिन के साथ २ कोई मनुष्य या कतिपय मनुष्य अधिकार के पात्र हो जाते हैं। अपूर्ण कर्तव्य वे होते है जिनके कारण कोई अधिकार का पात्र नहीं होता। मेरे विचार मे ठीक यही भेद न्याय अर्थात् इनसाफ तथा अन्य नैतिक कर्तव्यो मे है। न्याय शब्द के भिन्न २ साधारण प्रयोगों के जो उदाहरण इस अध्याय के आरम्भ में दिये गये हैं उन सब उदाहरणों मे साधारणतया व्यक्तिगत अधिकार या हक का भाव मौजूद है। चाहे अन्याय या बे इन्साफी किसी का माल छीनने मे हो, चाहे उसके साथ विश्वासघात करने में हो, या उसके साथ ऐसा बर्ताव करने मे हो जिसका वह अधिकारी नहीं है, या उसके साथ उन मनुष्यों की अपेक्षा बुरा व्यवहार करने मे हो जिन के दावे (Claim) उस से अधिक नहीं हैं, प्रत्येक दशा में न्याय की कल्पना में दो बातें मौजूद हैं—एक तो दूषित कार्य जो हुवा है और दूसरे वह मनुष्य जिस के साथ दूषित कार्य हुवा है। किसी

मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा अच्छा बर्ताव करने से भी अन्याय हो सकता है। किन्तु इस दशा में हानि उस मनुष्य के प्रतिद्वन्द्वियों को पहुंचती है। मेरी समझ में यह बात अर्थात् नैतिक कर्तव्य के साथ २ किसी मनुष्य में अधिकार का होना—न्याय तथा उदारता या परोपकार का विशेष भेद है। न्याय से केवल उसी बात का आशय नहीं होता है जिस का करना ठीक है और जिस का न करना गलत है वरन न्याय से उस चीज का आशय होता है जिस का दावा और कोई आदमी अपना नैतिक अधिकार बताकर हम पर कर सकता है। हमारी उदारता या हमारे परोपकार का पात्र बनने का किसी को नैतिक अधिकार नहीं है, क्योंकि हम पर कोई नैतिक बन्धन नहीं है कि हम किसी विशेष व्यक्ति के प्रति उदारता दिखायें या उस का उपकार करें। जो उदाहरण इस ठीक परिभाषा के प्रतिकूल मालूम पड़ते हैं वे ऐसे उदाहरण हैं जो इसके बहुत ही अधिक अनुकूल हैं। यदि कोई आचार शास्त्री इस बात को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है—जैसा कि कुछ आचार शास्त्रियों ने किया भी है—कि यदि कोई विशेष व्यक्ति नहीं तो भी कुल मिलकर मनुष्य जाति तो उन सब भलाई की अधिकारी है जो हम कर सकते हैं—तो वह तत्क्षण ही अपने पूर्व पक्ष में उदारता तथा उपकार को न्याय के साथ सम्मिलित कर देता है। वह यह कहने के लिये विवश होता है कि यथा शक्ति प्रयत्न द्वारा हम समाज के ऋण से उऋण हो सकते हैं। इस प्रकार हमारा यथा शक्ति भलाई करने का प्रयत्न करना ऋण चुकाने के समान हो जाता है। या वह यह भी कह सकता है कि जो कुछ समाज हमारे लिये करता है उस का बदला इस से कम कुछ नहीं हो सकता कि हम समाज की भलाई का यथा शक्ति

प्रयत्न करें । इस दशा मे भलाई करने का यथा शक्ति प्रयत्न कृतज्ञता-प्रकाशन का रूप ग्रहण कर लेता है । यह दोनों बातें अर्थात् ऋण का चुकाना तथा कृतज्ञता-प्रदर्शन न्याय के अन्तर्गत हैं । न्याय या इन्साफ के साथ अधिकार लगा हुवा है परोपकार के साथ अधिकार-पात्रता का प्रश्न नहीं है । जो न्याय अर्थात् इन्साफ तथा साधारण आचार नीति मे यह भेद नहीं मानता वह दोनों को गडबड कर देता है ।

इस बात को मालूम करने के बाद कि न्याय का विचार किन २ भिन्न २ तत्वों से बनता है हम को यह बात मालूम करने का प्रयत्न करना चाहिये कि जो भावना इस विचार के साथ उठती है वह कोई विशेष नैसर्गिक देवाज्ञा है या यह भावना कतिपय ज्ञात नियमों के अनुसार इस विचार ही से विकसित हुई है और विशेषतया क्या इस प्रकार की भावना मस्लहत के विचार से उत्पन्न हो सकती है ?

मेरा विचार है कि 'न्याय' का भाव (Sentiment) किसी ऐसी चीज़ से उत्पन्न नहीं होता जिस को हम साधारणतया या ठीक तौर से मस्लहत का विचार कह सकते हों, किन्तु 'न्याय' या 'इन्साफ़' के विचार मे जो कुछ आचारयुक्तता है वह मसलहत के विचार से उत्पन्न हुई है ।

हम प्रमाणित कर चुके हैं कि 'न्याय' की भावना के दो मुख्य अवयव (Ingredients) ये हैं—उस मनुष्य को दण्ड देने की इच्छा जिस ने हानि की है तथा इस बात का ज्ञान या विश्वास कि कोई मनुष्य या कुछ मनुष्य ऐसे हैं जिन को हानि पहुची है ।

मुझे यह प्रतीत होता है कि किसी को हानि पहुंचाने वाले को दण्ड देने की इच्छा दो भावों से खुद बखुद पैदा होती है। ये दो भाव आत्म-रक्षा का आवेग तथा सहानुभूति की भावना हैं। ये दोनों भाव बिल्कुल प्राकृतिक हैं और या तो निसर्ग (Instincts) हैं या निसर्ग से मिलते जुलते हैं।

यह प्राकृतिक है कि यदि हम को या उन मनुष्यों को, जिन से हमें सहानुभूति है, हानि पहुंचाई जायगी तो हम को बुरा मालूम देगा या हम उस हानि को रोकने या उस हानि का बदला लेने की चेष्टा करेंगे। यहां पर इस प्रकार के भाव की उत्पत्ति के विषय में वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं है। चाहे यह निसर्ग हो या मनीषा का परिणाम—हम सब जानते हैं कि ऐसा करना सब पशुओं की प्रकृति में है क्योंकि हम देखते हैं कि प्रत्येक जानवर उन को हानि पहुंचाने का प्रयत्न करता है जो उस को या उस के बच्चों को हानि पहुंचाते हैं या जिन को वह समझता है कि हानि पहुंचाने वाले हैं। यहां पर मनुष्यों तथा अन्य जानवरों मे दो बातों का भेद है। पहिली बात तो यह है कि मनुष्यों में मनुष्य जाति तथा सब ज्ञान-ग्रहण-शील सृष्टि के प्रति सहानुभूति होना संभव है। अन्य जानवर अपने बच्चों के साथ ही सहानुभूति रखते हैं। कुछ उच्च श्रेणी के जानवर (Noble) ऐसे बड़े जानवर के साथ भी सहानुभूति रखते हैं जो उन पर मेहरबान होता है। दूसरी बात यह है कि मनुष्यों की बुद्धि अधिक विकसित होती है। इस कारण भावों का, चाहे आत्म-सम्बन्धी हो चाहे सहानुभूति विषयक—दायरा अधिक बड़ा होता है। सहानुभूति का दायरा बड़ा होने के विचार को छोड़कर भी मनुष्य अपनी अधिक

विकसित बुद्धि के कारण अपने तथा मनुष्य समाज के हित के सम्बन्ध को जिस का वह एक सभ्य है समझ सकता है। वह जान सकता है कि जिस आचरण से साधारणतया समाज की हस्ती (Security) खतरे में पडती है उस की हस्ती भी खतरे में पडती है। इस कारण इस प्रकार के आचरण पर उस के अन्दर आत्म-रक्षा का निसर्ग (यदि यह बात निसर्ग हो) जागृत हो जाता है। इस अधिक विकसित बुद्धि तथा साधारण-तया मनुष्य जाति के प्रति सहानुभूति का भाव रखने की क्षमता के कारण ही मनुष्य अपनी जाति, अपने देश तथा मनुष्य जाति का इस प्रकार ख्याल कर सकता है कि जिस से उनको हानि पहुंचाने वाले कार्यों को देखकर उसके अन्दर सहानुभूति तथा बदला लेने के भाव जागृत हो जाते हैं।

इस प्रकार न्याय के भाव मे दण्ड देने की इच्छा का अवयव उस हानि का जो हमको या समाज को पहुंचती है, बदला लेने की प्राकृतिक भावना है। बदला लेने के ख्याल में स्वत कोई आचार नीति नहीं है। जो आचार नीति है वह यह है कि हम इस ख्याल को बिल्कुल सामाजिक सहानुभूति के आधीन कर देते हैं। प्राकृतिक भावना तो यह है कि किसी मनुष्य का जो कुछ भी काम हमे अरुचिकर हो हम उस से बुरा मानें अर्थात् क्रुद्ध हों, किन्तु समाज का ख्याल आ जाने के कारण हम उन कामों से बुरा मानते हैं जो समाज के लिये अहितकर हों। उदाहरणात मनुष्य ऐसे काम से क्रुद्ध होते हैं जो यद्यपि उन के लिये अहितकर नहीं होता है वरन् समाज के लिये हानिकारक होता है।

बहुत से मनुष्य कहेंगे कि जब हम मे इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता है कि अन्याय हो रहा है तो हम उस समय समाज

या सामुदायिक हित का ध्यान नही रखते है वरन् किसी व्यक्ति का ख्याल करते हैं। किन्तु इस प्रकार का कथन इस सिद्धान्त के विरुद्ध कोई आक्षेप नहीं है। बेशक साधारणतया मनुष्यों को इस कारण क्रोध आता है कि उन्हें कष्ट पहुंचा है। किन्तु वह मनुष्य, जिस में इस प्रकार के क्रोध का भाव नैतिक भाव (Moral feeling) है अर्थात् जो क्रोध करने से पहिले इस बात का विचार करता है कि काम निन्दनीय है भी या नहीं, चाहे प्रगट रूप से अपने दिल मे यह न कहे कि मैं समाज का पक्ष ले रहा हूं किन्तु इस बात को अनुभव अवश्य करता है कि वह एक ऐसे नियम का पालन कर रहा है जो उस के तथा समाज के लिये हितकर है। यदि वह इस बात का अनुभव नहीं करता है अर्थात् यदि वह केवल इस ही बात का विचार करता है कि उस कार्य का उस पर क्या प्रभाव पडता है तो वह मनुष्य इस बात को नहीं जानता कि मैं सत्य पर हूं या नहीं। ऐसा मनुष्य अपने कार्यों के उचित या अनुचित होने का विचार नही करता है। इस बात को उपयोगितावाद के विरोधी आचार शास्त्रियों ने भी माना है। जब कान्ट (जैसा कि पहिले भी लिखा जा चुका है) आचार नीति का मुख्य सिद्धान्त यह बताता है कि इस प्रकार आचरण करो कि जिस से तुम्हारे आचरण के नियम को सब सहेतुक धर्मवादी (Rationalists) कानून मान लें तो वह वास्तव में इस बात को मान लेता है कि जब कोई व्यक्ति किसी कार्य के आचार-युक्त होने का निर्णय करता है तो उस के दमाग़ में मनुष्य जाति या समाज का ख्याल रहना चाहिये। यदि कान्ट का यह आशय नहीं है तो उस का कथन निरर्थक है। भला यह कैसे हो सकता है कि बिल्कुल खुदगर्ज़ी से भरे हुवे नियम को सारे सहेतुक धर्मवादी

मान लेंगे। यदि कान्ट के कथन के कुछ अर्थ हो सकते हैं तो यही होने चाहियें कि हमको ऐसे नियम के अनुसार आचरण करना चाहिये कि जिस नियम को सारे सहेतुक धर्मवादी सामुदायिक हित के विचार से मान लें।

अच्छी तरह समझाने के लिये सब बातों को फिर दुहराये लेते हैं। 'न्याय' का विचार दो बातों की कल्पना करता है, एक तो आचरण का नियम और दूसरा वह भाव (Sentiment) जो इस नियम की अनुमति देता है। आचरण का नियम मनुष्य मात्र के लिये समझा जाना चाहिये और उन के लिये हितकर होना चाहिये। न्याय का भाव इस बात की इच्छा है कि जो लोग आचरण के नियम का उल्लंघन करें उन को दण्ड मिलना चाहिये। इस के साथ २ किसी आदमी या बहुत से आदमियों का भी ध्यान होता है जिन को आचरण का नियम उल्लंघन करने से हानि पहुंचती है और उनके अधिकार कुचले जाते हैं। 'न्याय का भाव (Sentiment) मुझे इस बात की प्राकृतिक इच्छा जान पडती है कि उन लोगों को हानि पहुंचाई जावे जो हम को या उन को जिन से हमे सहानुभूति है हानि पहुंचावें। यह इच्छा सब जानवरों में पाई जाती है।

इस समस्या पर विचार करते हुवे मैंने इस बात का वर्णन किया है कि अन्याय होने पर किसी व्यक्ति या कतिपय व्यक्तियों का अधिकार कुचला जाता है। अच्छा तो अधिकार कुचले जाने का क्या अर्थ है? जब हम कहते हैं कि अमुक चीज़ पर अमुक व्यक्ति का अधिकार है तो हमारा आशय होता है कि उस व्यक्ति का समाज पर पूरा दावा है कि समाज उस व्यक्ति को वह चीज, क़ानून की ताक़त, शिक्षा अथवा लोक-मत के

द्वारा दिलवाये। हम इस बात को प्रमाणित करने के लिये, कि अमुक वस्तु पर अमुक व्यक्ति का अधिकार नहीं है, इस बात को प्रमाणित करते हैं कि समाज को उस वस्तु को उस व्यक्ति को दिलाने का प्रबन्ध नहीं करना चाहिये किन्तु उस वस्तु की प्राप्ति को उस व्यक्ति के भाग्य या उद्योग पर छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार हम कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि किसी व्यवसाय में इमान्दारी के साथ स्पर्धा अर्थात् मुकाबिला करता हुवा जितना कमा सके कमाये क्योंकि समाज को नहीं चाहिये कि वह उस आदमी को ईमान्दारी के साथ यथाशक्ति कमाने से रोके। किन्तु उस आदमी को यह अधिकार नहीं है कि वह ३००) मासिक कमायेगा, चाहे वह इतना कमा रहा हो क्योंकि समाज इस बात की ज़िम्मेदार नहीं है कि वह ३००) अवश्य कमाये। इस के विपरीत यदि उस के पास तीन प्रतिशत व्याज का १० सहस्र पौण्ड का स्टाक अर्थात् कम्पनी कागज है तो उस का अधिकार है कि वर्ष भर में उसे ३०० पौन्ड मिलें क्योंकि समाज पर जिम्मेदारी आजाती है कि वह उस को उसके मूलधन पर इतने पौण्ड की आय करावे।

इस प्रकार मेरा विचार है कि अधिकार रखने का मतलब किसी ऐसी चीज़ को रखना है जिस को कब्जे से बाहर न जाने देना समाज का धर्म है। यदि कोई आक्षेप करने वाला मेरे से प्रश्न करे कि समाज को ऐसा क्यों करना चाहिये तो मैं इस के सिवाय कुछ उत्तर नहीं दे सकता कि सार्वजनिक हित के विचार से ऐसा करना चाहिये। यदि सार्वजनिक हित का विचार ऐसा करने के लिये काफी जोरदार प्रमाण नहीं मालूम पड़ता है तो उसका कारण यह है कि हमारे न्याय के भाव की नीव केवल हेतुवाद ही पर नहीं है वरन् इस भाव में पशु-प्रकृति अर्थात् बदला लेने

की इच्छा भी बहुत हद तक शामिल है। यह बदला लेने की इच्छा इस कारण आचारयुक्त ठहराई जा सकती है क्योंकि इस का एक बहुत बड़ी उपयोगिता से सम्बन्ध है। यह बहुत बड़ी उपयोगिता 'हिफ़ाजत' है। हमारे लिये हितकर बातो मे सब से अधिक महत्वपूर्ण बात 'हिफाज़त' है। और सारी सांसारिक लाभदायक बातें ऐसी हैं जिनकी एक आदमी को आवश्यकता है किन्तु दूसरे को नहीं है। इन लाभदायक बातों मे से बहुत सी ऐसी हैं जिन को आवश्यकता पडने पर हम सहर्ष छोड सकते हैं या उन के स्थान की अन्य प्रकार से पूर्ति कर सकते है। किन्तु बिना 'हिफाजत' (Security) के किसी आदमी का काम नहीं चल सकता। 'हिफाजत' होने की दशा ही में अन्य मनुष्य हमको हानि नहीं पहुंचा सकता। हिफाजत होने ही पर इष्ट पदार्थ हमारे काम के हैं नहीं तो क्षणिक उपयोग के अतिरिक्त इष्ट पदार्थों का हमारे लिये कोई मोल नही रहता क्योकि यह अंदेशा बना रहता है कि ज्यूंही कोई हम से मजबूत आदमी हमको मिलेगा तत्काल ही हमें इन पदार्थों से वञ्चित कर देगा। इस कारण उदर-पूर्ति के बाद सब आवश्यकताओं में सब से अधिक अनिवार्य आवश्यकता हिफाजत की है। और हिफाज़त उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि वह संस्था, जिसके सुपुर्द हिफाजत का काम हो, सदैव अपने काम पर मुस्तैद न रहे। इस कारण हमारी यह कल्पना—कि अन्य मनुष्यों का कर्तव्य है कि हिफाज़त के काम मे, जिस पर हमारा अस्तित्त्व तक निर्भर है, हमारा हाथ बटावें—इतनी दृढ हो जाती है जितनी अधिक साधारण उपयोगी कार्यों के विषय में नहीं होती।

इस प्रकार हिफाजत का दावा अन्य उपयोगी कार्यों से बिल्कुल भिन्न हो जाता है और निरपेक्षता (Absoluteness)

का रूप धारण कर लेता है अर्थात् प्रत्यक्ष में यह मालूम पड़ता है कि इस दावे का आधार अन्य बातों का ख्याल नहीं है। यदि न्याय का उपरोक्त विश्लेषण या स्पष्टीकरण न्याय की कल्पना का ठीक वृत्तान्त नहीं है—यदि न्याय का उपयोगिता के विचार से कुछ सम्बन्ध नहीं है, यदि न्याय ऐसा आदर्श है जिस को मस्तिष्क अपने ही अन्दर दृष्टि डाल कर जान सकता है—तो समझ मे नहीं आता कि यह आन्तरिक आदेश कर्त्ता (inner oracle) इतना सन्दिग्ध क्यों है ? क्यों बहुत सी बातें एक प्रकार से विचार करने से उचित मालूम पड़ती है और फिर दूसरी प्रकार से विचार करने से वे ही बातें अनुचित मालूम पड़ती हैं।

हम से बार २ कहा जाता है कि उपयोगिता का आदर्श अनिश्चित है। प्रत्येक मनुष्य भिन्न २ प्रकार से अर्थ लेता है। इस कारण न्याय के आदर्शों का पालन उचित है जो नित्य (Immutable), अनिवार्य (Ineffaceable) तथा भूल से मुक्त (Unmitsakable) है तथा जो अपने प्रमाण स्वयं है और जिन पर लोकमत के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पडता है। इस कथन से स्यात् कोई कल्पना करे कि न्याय से संबन्ध रखने वाले प्रश्न निर्विवाद हैं तथा यदि हम 'न्याय' को अपने आचरण का नियम बनालें तो प्रत्येक आचार के ठीक वे ठीक होने का निर्णय ऐसे असिन्दिग्ध रूप से होगा जैसे किसी गणित के प्रश्न के उत्तर के ठीक या ग़लत होने का निर्णय हो जाता है। किन्तु यह बात बिल्कुल ग़लत है। जितना विवादात्मक यह विषय है कि समाज के लिये क्या हितकर है और क्या अहितकर, उतना ही विवादात्मक यह विषय है कि क्या

उचित अर्थात् न्याय-संगत है और क्या अनुचित अर्थात् न्याय के विरुद्ध । केवल भिन्न २ जातियों तथा व्यक्तियों ही में न्याय की कल्पनायें भिन्न २ नहीं है वरन एक ही व्यक्ति के मस्तिष्क मे भी न्याय की कल्पना का आधार कोई एक नियम, सिद्धान्त या उसूल नहीं है । एक ही व्यक्ति की भी न्याय की कल्पना बहुत से नियमों, सिद्धान्तों या उसूलों से मिलकर बनती है । कभी २ ऐसा भी होता है कि इन भिन्न २ नियमों, सिद्धान्तों या उसूलों के आदेश समान नहीं होते हैं और ऐसी दशा मे और उस समय वह व्यक्ति या तो किसी अन्य आदर्श का आसरा लेता है या अपनी ही पसन्द को काम मे लाता है ।

उदाहरणार्थः कुछ आदमियों का कहना है कि किसी आदमी को इस कारण दण्ड देना, कि दूसरों को उदाहरण हो, अनुचित है । दण्ड उस ही दशा में ठीक है जब कि दण्ड भोगने वाले के फ़ायदे ही के लिये दण्ड दिया जाय । दूसरे लोग इस से बिल्कुल उल्टी बात कहते हैं । उन का कहना है कि समझदार आदमियों को उन्हीं के फ़ायदे के लिये दण्ड देना नादिरशाही तथा अन्याय है । यदि केवल उन्हीं के फ़ायदे का प्रश्न है तो अपने फ़ायदे को वे स्वय ही समझ सकते हैं । हा ! उन को इस कारण दण्ड दिया जा सकता है कि दूसरे आदमियों में वह बुराई न फैले । आत्म-रक्षा के विचार से ऐसा करना न्याय-संगत है । मिस्टर ओवेन (Owen) का कहना है कि दण्ड देना बिल्कुल ही अनुचित है क्योंकि मुजरिम ने अपना चरित्र आप ही नहीं बनाया है । अपनी शिक्षा तथा अपने चारों ओर की परिस्थिति के कारण मुजरिम बन गया है । इन सब बातों के लिये वह ज़िम्मेदार नहीं है । ऊपर से ये सब मत बिल्कुल

युक्ति-संगत प्रतीत होते हैं। जब तक इन प्रश्नों पर केवल न्यायसंगत या उचित होने की दृष्टि से विचार किया जायगा और न्याय के उन आधारभूत सिद्धान्तों पर ध्यान न दिया जायगा जिन पर न्याय की प्रमाणिकता निर्भर है तो मेरी समझ मे नहीं आता कि उपरोक्त तीनों मतों मे से किसी एक मत का खण्डन किस प्रकार किया जासकता है। तीनों मतों ने न्याय का सर्वसम्मत भिन्न २ आशय लिया है। पहिला मत कहता है कि यह मानी हुई बात है कि दूसरे आदमियों के भले के लिये किसी व्यक्ति की विना उसकी इच्छा के कुरबानी करना अन्याय है। दूसरे मत का कहना है कि यह बात मानी हुई है कि आत्म-रक्षा का ध्यान न्याय-संगत है और यह अन्याय है कि किसी मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध यह मानने के लिये विवश किया जाय कि अमुक काम उस के लिये हितकर है। ओवेन के अनुयायियों का कहना कि यह मानी हुई बात है कि किसी मनुष्य को ऐसे काम के लिये, जिसका वह जिम्मेदार नहीं है, दण्ड देना अनुचित है। इन तीनों मतों में से प्रत्येक मत उस समय तक अखण्डनीय रहेगा जबतक कि उस मत के अनुयायियों को न्याय के उस उसूल के अतिरिक्त, जिस को उन्हों ने मान रक्खा है, किसी और उसूल को मानने के लिये विवश न किया जायगा। जब तक भिन्न २ उसूल रहेंगे, प्रत्येक मत अपने दावे के सबूत में बहुत कुछ कह सकेगा, प्रत्येक मत को अपनी ही न्याय की कल्पना स्थिर रखने के लिये न्याय की अन्य कल्पनाओं को, जो उसकी कल्पना के समान ही प्रमाणिक हैं, कुचलना पड़ेगा। यह कठिनाइयां हैं। सदैव से तत्त्वज्ञानियों ने इन कठिनाइयों को अनुभव किया है। इन कठिनाइयों से बचने की बहुत सी युक्तियें भी सोची हैं। किन्तु उन युक्तियों से कठिनाइया दूर नहीं होतीं, केवल उन का रुख

फिर जाता है। उपरोक्त तीनों कठिनाइयों में से अन्तिम कठिनाई से बचने के लिये जो युक्ति सोची है वह इच्छा की स्वतंत्रता कहाती है। दण्ड देने के कार्य को युक्ति-संगत प्रमाणित करने के लिये कहते हैं कि मुजरिम की इच्छा तो स्वतंत्र थी। दूसरी कठिनाई से-अर्थात किसी मनुष्य को उस ही के लाभ के लिये दण्ड देना अनुचित है—बचने के लिये इस बात की कल्पना करली गई है कि किसी अज्ञात समय में समाज के सब सभ्यों ने इस बात का मुआहिदा (Contract) कर लिया था कि हम सब क़ानूनों का पालन करेंगे तथा उनके उलंघन करने की दशा मे दण्ड के पात्र होंगे और इस प्रकार या तो अपने या समाज के लाभ के विचार से कानून बनाने वालों को वह अधिकार दे दिया था जो ऐसा न करने की दशा में उनको नहीं होता। यह ख्याल किया जाता था कि इस दिल को खुश करने वाले विचार से सब दिक्क़त दूर हो गई है तथा दण्ड का देना न्याय–सङ्गत सिद्ध हो जाता है क्योंकि यह बात मानी हुई है कि मनुष्य को उस ही की इच्छा के अनुसार दण्ड देना अनुचित नहीं है। यह प्रमाणित करना अनावश्यक है कि उपरोक्त विचार यदि केवल कल्पना-मात्र न समझा जाय तो भी न्याय का यह उसूल—कि मनुष्य को उस ही की इच्छा के अनुसार दण्ड देना अनुचित नहीं है—अन्य उसूलों से, जो पेश किये जाते हैं, अधिक प्रमाणिक नहीं है। इस बात से पता चलता है कि किस प्रकार बिना किसी नियम का अनुसरण करे न्याय के कल्पित सिद्धान्त (Supposed principles) बन जाते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह उसूल तो कानूनी अदालतों की सहूलियत के लिये बना लिया गया है। किन्तु क़ानूनी अदालतें भी इस उसूल का पूर्णरूप से

पालन नहीं कर सकती हैं क्योंकि इच्छापूर्वक किये हुवे मुआहिदों को भी छल या कभी २ केवल भूल या गलत सूचना की बिना पर रद्द कर देती हैं। अस्तु।

दण्ड देने की न्याय-युक्तता को मान लेने पर भी यह बात बड़ी विवादग्रस्त रहती है कि जुर्म के लिये कितना दण्ड देना उचित है। न्याय के आरम्भिक तथा स्वाभाविक भाव को कोई नियम इतना प्रबल नहीं मालूम पड़ता जितना यह नियम—कि आख आंख के लिये और दांत दांत के लिये। यहूदियों तथा मुसलमानों के क़ानून के इस सिद्धान्त को यूरुप ने अमली उसूल मानना साधारणतया छोड़ दिया है। किन्तु मुझे सन्देह है कि बहुत से मनुष्य दिल में इस बात को पसन्द करते हैं। संयोगवश जब किसी मुजरिम को इस ही परिमाण में दण्ड मिलता तो जन साधारण सन्तुष्ट होते हैं। इससे पता चलता है कि इस प्रकार के दण्ड का भाव कितना प्राकृतिक या स्वाभाविक है। कुछ आदमियों का विचार है कि जुर्म के अनुसार ही दण्ड देना उचित है अर्थात मुजरिम को उसके नैतिक अपराध (Moral guilt) के अनुसार दण्ड मिलना चाहिये। नैतिक अपराध नापने का उनका पैमाना चाहे कुछ भी हो, ये लोग इस बात का विचार नहीं करते कि किसी जुर्म को करने से रोक के लिये कितने दण्ड की आवश्यकता है। दूसरे मनुष्यों का कहना है कि दण्ड देते समय केवल इस ही बात को ध्यान में रखना चाहिये कि कितना दण्ड देना चाहिये जिस से फिर ऐसा जुर्म न हो। इन लोगों का कहना है कि किसी मनुष्य का चाहे कुछ ही अपराध क्यों न हो उसको इतना दण्ड देना उचित है कि जिससे वह मनुष्य

फिर उस अपराध को दुबारा न करे तथा दूसरे लोग उसका अनुसरण न करें। इस से अधिक दण्ड देना उचित नहीं है।

एक और विषय का, जिसका पहिले बयान हो चुका है, उदाहरण लीजिये। Co-operative Industrial Association में कार्य-दक्षता के कारण अधिक प्रतिफल देना न्याय-संगत है या नहीं? जिन लोगों का विचार है कि कार्य-दक्षता के कारण अधिक प्रतिफल देना उचित नहीं है उन लोगों का कहना है कि जो कोई भी यथाशक्ति प्रयत्न करता है बराबर प्रतिफल का अधिकारी है। जितना उससे हो सकता है वह करता है। यह उसका कसूर नहीं है कि वह अधिक दक्ष नहीं है। इस कारण उसे कम प्रतिफल देना उचित नहीं है। कार्य में अधिक दक्ष होनेवालों को तो और भी बहुत से लाभ हैं। उनकी प्रशंसा होती है। उनका प्रभाव अधिक होता है। दक्षता के कारण उनका चित्त अधिक प्रसन्न रहता है। इस कारण उसको अधिक प्रतिफल देने की आवश्यकता नहीं है। न्याय तो यह कहता है कि समाज को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि जिससे सब मनुष्यों को उन्नति का समान अवसर रहे। समाज को उन लोगों के साथ और रियायत नहीं करनी चाहिये जिन्हें पहिले ही से उन्नति का अधिक अवसर है। जिन लोगों का विचार है कि कार्य-दक्षता के कारण अधिक प्रतिफल मिलना चाहिये उनका कथन है कि दक्ष कारीगर समाज का अधिक काम करते है तथा उनका काम अधिक फायदेमन्द होता है इस कारण वे लोग अधिक प्रतिफल के अधिकारी हैं। जो काम सब आदमी मिल कर करते हैं उस काम से दक्ष कारीगर का अधिक भाग होता है, इस कारण उसको अधिक

प्रतिफल न देना एक प्रकार का लुटेरापन है। यदि उसको औरों के बराबर ही प्रतिफल दिया जाता है तो उससे औरों के बराबर ही कामलेना चाहिये। उसकी अधिक दक्षता के अनुसार उससे कम समय काम लेना चाहिये तथा कम मेहनत करानी चाहिये। न्याय के इन परस्पर विरोधात्मक सिद्धान्तों का निर्णय कौन करेगा? दोनों पक्षवाले न्याय का आश्रय लेते हैं। दोनों न्याय के भिन्न २ रूप लेते हैं। एक पक्ष इस बात पर दृष्टि रखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कितना मिलना न्याय-संगत है। दूसरा पक्ष इस बात को ध्यान में रखता है कि समाज को कितना देना न्याय-संगत है। प्रत्येक का दावा उसके दृष्टि-कोण के अनुसार अखण्डनीय है। न्याय की बिना पर किसी एक पक्ष को अधिक अच्छा केवल स्वेच्छानुसार (Arbitrarily) ही बताया जा सकता है। एक मात्र सामाजिक उपयोगिता ही इस बात का निर्णय कर सकती है कि कौनसा पक्ष अधिक मान्य है।

इसी प्रकार टैक्स लगाने के सम्बन्ध में भी बहुत से परस्पर विरोधात्मक न्याय के उसूल उपस्थित होते हैं। कुछ आदमियों का कहना है कि आर्थिक आय के अनुसार ही टैक्स लगाना चाहिये। कुछ आदमियों की सम्मति है कि क्रमशः वर्धित कर (Graduated taxation) चाहिये अर्थात् जो आदमी अधिक बचा सकते हैं उन से अधिक प्रतिशत के हिसाब से टैक्स लेना चाहिये। प्राकृतिक न्याय के अनुसार आर्थिक आय पर बिलकुल भी ध्यान न देना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य से जब तक मिल सके बराबर टैक्स लेना चाहिये जिस प्रकार किसी मैस या क्लब के सब मैम्बर-चाहे उनकी आर्थिक आय कितनेही हों—समान (Privilege) अधिकारके लिये बराबर

चन्दा देते हैं। चूंकि सरकार क़ानून द्वारा सब की रक्षा करती है तथा सब को रक्षा की आवश्यकता होती है, इस कारण न्याय यही है कि सब से रक्षा करने का बराबर मूल्य लिया जाये। यह बात न्याय-संगत समझी जाती है—न्याय के विपरीत नहीं—कि सौदागर किसी चीज़ के दाम सब खरीदारों से—बिना इस बात के ख्याल के कि उनकी आर्थिक स्थिति कैसी है—समान ले। किन्तु जब इस ही सिद्धान्त को टेक्स लगाने पर लगाया जाता है तो इस सिद्धान्त के पोषक नहीं मिलते क्योंकि ऐसा करना मनुष्यता के भाव तथा समाजिक सुसाधकता के विपरीत है। किन्तु न्याय का जो उसूल बराबर टैक्स लगाने का समर्थन कर रहा है उतना ही ठीक है जितने वे उसूल जो बराबर टैक्स लगाने से विपक्ष मे दिये जा सकते हैं। रईसों से अधिक टेक्स लेना न्याय-संगत प्रमाणित करने के लिये आदमी यह युक्ति देने के लिये विवश होते हैं कि सरकार ग़रीबों की अपेक्षा रईसों के लिये अधिक काम करती है। किन्तु वास्तव मे यह बात ठीक नहीं है। अमीर लोग तो कानून तथा सरकार की अनुपस्थिति में भी ग़रीबों की अपेक्षा अपनी रक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं और सभवतः ग़रीबों को अपना गुलाम बना लेने में कृतकार्य हो सकते हैं। कुछ और आदमियों की सम्मति है कि जीवन की रक्षा के लिये तो सब को बराबर टैक्स देना चाहिये क्योंकि सब को अपनी जान बराबर प्यारी है किन्तु सम्पत्ति आदि की रक्षा के लिये न्यूनाधिक टैक्स देना चाहिये क्योंकि सब के पास समान धन सम्पत्ति नहीं है। दूसरे आदमी इस सिद्धान्त के उत्तर में कहते हैं कि सब मनुष्यों के लिये, जो कुछ भी जिस किसी के पास है, समान मूल्य का है। एक निर्धन मनुष्य के लिये एक रुपया उतना ही मूल्यवान् है जितनी एक अमीर को

एक अशर्फ़ी। इन सब परस्पर विरोधात्मक सिद्धान्तों का निर्णय केवल उपयोगितावाद ही कर सकता है।

तो क्या न्याय-संगत अर्थात् उचित (Just) और मस्लहत अर्थात् सुसाधकता में केवल कल्पित भेद है? क्या मनुष्य जाति अब तक भ्रम में पड़ी हुई थी जो यह सोचती थी कि न्याय (Justice) नीति (Policy) से अधिक पवित्र चीज़ है तथा न्याय-सङ्गत होने पर ही किसी काम को मस्लहत या सुसाधकता के विचार से करना चाहिये? कदापि नहीं। न्याय के भाव की प्रकृति तथा उत्पत्ति का विवरण, जो हमने दिया है, 'उचित' और 'मस्लहत' में वास्तविक भेद मानता है। जो लोग इस बात को बिल्कुल घृणा की दृष्टि से देखते हैं कि किसी कार्य की आचार-युक्तता उसके परिणाम पर निर्भर होनी चाहिये वे न्याय-युक्तता तथा मस्लहत के भेद को मुझ से अधिक महत्त्व नहीं देते हैं।

यद्यपि मैं उन सिद्धान्तों का विरोध करता हूं जो उपयोगिता को न्याय-युक्तता का आधार न मानकर न्याय-युक्तता का कतिपय आदर्श अपने सन्मुख रखते हैं, किंतु मैं उस न्याय-युक्तता को, जिसका आधार मुख्यतया उपयोगिता है, सारी आचार नीति में सब से अधिक पवित्र तथा मान्य समझता हूं। न्याय-युक्तता (Justice) कतिपय उन आचार विषयक नियमों का नाम है जिनका मानुषिक भलाई की प्रधान प्रधान बातों से सम्बन्ध है और जो इस कारण, बिना और किसी विचार के, आचार–विषयक साधारण नियमों से अधिक मान्य हैं। न्याय के विचार की मुख्य कल्पना—अर्थात् किसी आदमी या कुछ आदमियों में अधिकार का रहना—इस बात को प्रदर्शित

तथा प्रमाणित करती है कि न्याय-युक्तता से सम्बन्ध रखने वाली बातें अधिक मान्य हैं।

मनुष्य जाति के सुख के लिये आचार-विषयक वे नियम*— जो मनुष्यों को आपस में एक दूसरे को हानि पहुंचाने से रोकते हैं—उन उसूलों से, जो मानुषिक कार्यों के किसी विशेष विभाग का प्रबंध करने का सबसे अच्छा तरीका बताते हैं, अधिक आवश्यक है। इन नियमों में यह भी विशेषता है कि मनुष्य जाति की सारी सामाजिक भावनाओं का निर्णय मुख्यतया इन्हीं के अनुसार होता है। इन नियमों का पालन करने से ही मनुष्यों में शांति रहती है। यदि इन नियमों का पालन करना नियम तथा इन का उल्लंघन करना अपवाद न हो तो प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को दुश्मन समझने लगे और सदैव उससे अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता रहे। मनुष्य जाति इन नियमों का एक दूसरे से पालन कराने का अधिक प्रयत्न करती है क्योंकि ऐसा करना आवश्यक समझती है। दूर-दर्शिता के विचार से प्रत्येक मनुष्य को उपदेश या प्रोत्साहन देने से मनुष्यों को लाभ हो सकता है या वे ऐसा भी सोच सकते हैं कि ऐसा करने से कुछ लाभ नहीं होता है। प्रत्येक मनुष्य को यह निश्चय करादेना कि परोपकार करना उसका कर्तव्य है निस्सन्देह समाज के लिये हितकर है, किन्तु बहुत अधिक नहीं। ऐसा होना तो सम्भव है कि किसी मनुष्य को इस बात की आवश्यकता न पड़े कि दूसरे उसका उपकार करें, किंतु प्रत्येक मनुष्य को सदैव

---

* इन नियमों में हमको उन नियमों को सम्मिलित करना नहीं भूलना चाहिये जो एक दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा डालने से रोकते है।

इस बात की आवश्यकता रहती है कि दूसरे मनुष्य उसको हानि न पहुंचावें। इस कारण वे आचार विषयक नियम, जो प्रत्यक्ष रूप में प्रत्येक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों द्वारा हानि पहुंचाये जाने से बचाते हैं तथा परोक्ष रीति पर प्रत्येक मनुष्य को केवल अपने ही लाभ का ध्यान रखने से रोकते हैं, ऐसे नियम होते हैं जिनको प्रत्येक मनुष्य दिल से चाहता है और इसमे अपना भला समझता है कि इन नियमों का प्रचार करे तथा अपने वचनों तथा कार्यों द्वारा इन नियमों का दूसरे मनुष्यों से पालन कराने का प्रयत्न करे। नियमों का पालन करने से ही इस बात की परीक्षा तथा निर्णय होता है कि कोई मनुष्य मनुष्य-समाज का सभ्य होने योग्य है या नहीं क्योंकि इस ही बात पर इस बात का दारोमदार है कि वह मनुष्य उन मनुष्यों के लिये, जिन से उसका वास्ता पड़ेगा, कष्टप्रद (Nuisance) तो नहीं होगा। न्याय-युक्तता की दृष्टि से मान्य बातों में मुख्यतया ये ही आचार-विषयक नियम आते है। अन्याय के खास उदाहरण वे हैं जब कोई किसी की चीज पर जबरदस्ती कब्जा कर लेता है या किसी पर अनुचित बल का प्रयोग करता है। इस उदाहरण से उतर कर वे उदाहरण हैं जब कोई बिना किसी कारण के किसी को वह चीज नहीं मिलने देता है जिसका वह अधिकारी है। दोनों दशाओं में एक आदमी को हानि पहुचती है।

वेही प्रबल उद्देश्य, जो इन आरम्भिक आचार-नियमों के पालन करने की आज्ञा देते हैं, उन मनुष्यों को दण्ड का पात्र ठहराते हैं, जो इन नियमों का उल्लंघन करते हैं। चूंकि इन नियमों का उल्लघन करने वाले मनुष्यों के विपरीत आत्म-रक्षा, दूसरों की रक्षा तथा बदले के भाव जागृत हो जाते है, इस

ही कारण दण्ड या प्रतिकार तथा बुराई के बदले बुराई का न्याय के भाव के साथ घनिष्ट सम्बन्ध हो गया है तथा सब लोग इन बातों को न्याय के विचार में सम्मिलित कर लेते हैं। नेकी के बदले नेकी भी न्याय का एक आदेश है। यद्यपि इस आदेश की सामाजिक उपयोगिता प्रत्यक्ष है तथा यह आदेश इन्सानियत या मनुष्यता का प्राकृतिक भाव लिये हुवे हैं; किन्तु तत्क्षण ही इस आदेश का हानि या नुकशान के साथ उतना प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दीखता जितना न्याय के बहुत साधारण उदाहरणों में दृष्टि-गोचर होता है। परन्तु चाहे प्रत्यक्ष मे इस आदेश का हानि या नुकसान के साथ कम सबध मालूम पड़े किंतु वास्तव मे कम नहीं है। जो आदमी दूसरों से लाभ उठाता है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उन आदमियों को लाभ का प्रतिकार नहीं देता अर्थात् उनके साथ भलाई नहीं करता वह उन लोगों को वास्तविक कष्ट पहुचाता है क्योंकि इस बात से उनकी अत्यन्त स्वाभाविक तथा सहेतुक आशाओं पर पानी फिर जाता है। इस कष्ट का कारण लाभ उठाने वाला मनुष्य ही है क्योंकि वह लाभ पहुचाने वाले मनुष्य के हृदय मे आवश्यकता पडने पर भलाई किये जाने की आशा का अकुर अप्रत्यक्ष रूप से बोता है। यदि यह मालूम होजाय कि जिसके साथ हम भलाई कर रहे है वह समय पडने पर हमारे साथ भलाई न करेगा, तो स्यात् ही कोई मनुष्य कभी किसी के साथ भलाई करे। मनुष्यों के साथ जो बुराइया की जाती हैं उन बुराइयो मे आशाओं पर पानी फेरने का दर्जा बहुत ऊचा है क्योंकि मित्रता तथा वादे का तोडना—दोनों बातें—बहुत ही अनाचारयुक्त समझी जाती हैं। मनुष्यो के दिल को इतनी चोट कभी नहीं पहुंचती जितनी उस समय पहुंचती

है जब वह मनुष्य, जिस पर उनको पूरा भरोसा होता है, समय पड़ने पर धोखा देदेता है। किसी मनुष्य को उसकी भलाई का प्रतिकार न देना उसके साथ बड़ी ज्यादती है।

भलाई का बदला न पाने पर किसी मनुष्य को या उस से सहानुभूति रखने वाले को जितना बुरा मालूम होता है और किसी बात से उतना बुरा नहीं मालूम होता। इस कारण प्रत्येक मनुष्य के साथ वैसा बर्ताव करने का सिद्धान्त जिसका वह अधिकारी है अर्थात् भलाई के बदले भलाई तथा बुराई के बदले बुराई का सिद्धान्त केवल न्याय-युक्तता (Justice) के विचार ही मे नहीं आता है वरन् इस सिद्धान्त से न्याय के भाव को वह दृढ़ता प्राप्त होती है जिसके कारण मनुष्य न्याय-युक्तता को केवल सुसाधकता या मस्लहत से ऊंचा दर्जा देते है।

न्याययुक्तता के बहुत से सिद्धान्त, जो संसार में प्रचलित हैं तथा साधारणतया व्यवहृत होते हैं, न्याय-युक्तता के उपरोक्त सिद्धान्तों को, कार्यरूप में परिणात करनेके कारण-मात्र (Instrumental) हैं। मनुष्य केवल उस ही बात के लिये जिम्मेदार है जिस बात को उसने अपनी इच्छा से किया है या जिस बात को वह अपनी इच्छा से रोक सकता था। विना किसी आदमी का बयान सुने उसको दोषी ठहराना अनुचित है। दण्ड अपराध के अनुसार ही होना चाहिये। ये सब बातें तथा इनसे मिलती जुलती बातें वे सिद्धान्त हैं जिनका यह आशय है कि बुराई के बदले ही बुराई हो तथा विना बुराई के किसी के साथ बुराई न की जाय। ये साधारण सिद्धान्त अधिकतर न्यायालयों के कारण प्रचलित होगये हैं। न्यायालयों ने अपना काम ठीक रीति से करने के लिये अर्थात् दण्ड-पात्र को दण्ड देने के

लिये तथा प्रत्येक मनुष्य को उसका अधिकार दिलाने के लिये इन सिद्धान्तों के अनुसार बहुत से नियम बना लिये हैं।

न्यायाधीश का पहिला गुण निष्पक्ष होना है। न्याय की दृष्टि से निष्पक्षता भी एक फ़र्ज़ है। ऐसा होना इस कारण से भी आवश्यक है क्योंकि निष्पक्ष हुवे बिना न्यायाधीश अपने दूसरे फ़र्जों को भली प्रकार अदा नहीं कर सकता। किन्तु केवल इसी कारण से मनुष्य के कर्तव्यों मे समानता तथा निष्पक्षता के सिद्धान्तों को इतना ऊंचा दर्जा नहीं दिया गया है। एक प्रकार से समानता तथा निष्पक्षता के सिद्धान्त उन सिद्धान्तो के जिन को हमने अभी प्रतिपादित किया है, उप-सिद्धान्त (Corollaries) समझे जा सकते हैं। यदि यह कर्तव्य है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ वैसा ही वर्ताव किया जाय जिसका वह अधिकारी है अर्थात् भलाई के बदले भलाई और बुराई के बदले बुराई की जाय तो इस सिद्धान्त से यह बात भी अवश्य निकलती है कि उन सब मनुष्यों के साथ, जो समान बर्ताव किये जाने के अधिकारी हैं, समान वर्ताव किया जाय। उस समय की बात दूसरी है जब किसी इस से ऊंचे कर्तव्य के कारण ऐसा करना उचित न हो। इसी प्रकार समाज को, उन सब मनुष्यों के साथ जो समान वर्ताव के अधिकारी हैं समान वर्ताव करना चाहिये। सामाजिक तथा विभाजक (Distributive) न्याय का यह सब से बड़ा संक्षिप्त (Abstract) आदर्श है। सब संस्थाओं तथा अच्छे नागरिकों का कर्तव्य है कि इस आदर्श को अपने सामने रक्खें। किन्तु इस बड़े नैतिक कर्तव्य की एक और भी अधिक गहरी नीव है। यह सिद्धान्त आचार-नीति के मूल-सिद्धान्त का साक्षात् निःसरण (Direct-emanation) है। गौण

या व्युत्पन्न सिद्धान्तों का तर्क शास्त्रीय उप-सिद्धान्त मात्र नहीं है। यह सिद्धान्त उपयोगिता या अत्यधिक सुख के सिद्धान्त के अर्थ ही मे घुसा हुवा है । जब तक कि यह न माना जाय कि प्रत्येक मनुष्य का सुख, समान अंश मे (सुखों की भिन्नता का उचित विचार रखते हुये), बिल्कुल इतना ही गिना जायगा जितना दूसरे मनुष्य का सुख, यह सिद्धान्त सहेतुक अर्थ विहीन शब्दो का रूप-मात्र रह जाता है। इन शर्तों के पूरा होने पर बेन्थम का वचन—प्रत्येक मनुष्य को एक गिनना चाहिये, किसी को एक से अधिक नहीं—उपयोगिता के सिद्धान्त के नीचे व्याख्यात्मक भाष्य के रूप मे लिखा जा सकता है। आचार-शास्त्री तथा कानून बनाने वाले की दृष्टि में सुख के सम्बन्ध मे प्रत्येक मनुष्य का बराबर दावा होने के साथ २ प्रत्येक मनुष्य का सुख के सब साधनों के विषय मे भी बराबर दावा हो जाता है। उस समय की बात को छोड दीजिये जब कि मानुषिक जीवन की अनिवार्य दशाओं तथा जन साधारण के हित की दृष्टि से, जिस मे प्रत्येक मनुष्य का हित शामिल है, इस सिद्धान्त को सीमा-बद्ध करना पडता है । इन सीमाओं की खूब अच्छी तरह से व्याख्या होनी चाहिये। न्याय के अन्य सब सिद्धान्तो के समान इस सिद्धान्त का भी सब स्थानो पर प्रयोग आवश्यक नहीं है। किन्तु जहां कहीं भी इस सिद्धान्त का प्रयोग उचित समझा जाता है, यही सिद्धान्त न्याय का आदेश माना जाता है। यह माना जाता है कि सब मनुष्य समान बर्ताव के अधिकारी हैं सिवाय उस समय के जब कि किसी मानी हुई (Recognised) सामाजिक मस्लहत के कारण इसके विपरीत करना आवश्यक होता है। इस कारण जब मनुष्य समान बर्ताव के अधिकारी हैं तो तमाम सामाजिक असमानतायें, जो मस्लहत नहीं समझी जाती

हैं, केवल मस्लहत के विरुद्ध ही नहीं समझी जाने लगती हैं वरन् अन्याय समझी जाने लगती हैं। मनुष्य इस बात पर आश्चर्य करने लगते हैं कि किस प्रकार मनुष्यों ने इस अन्याय को बर्दाश्त कर लिया होगा, किन्तु यह बात भूल जाते हैं कि स्यात् वे भी मस्लहत के वैसे ही भ्रमात्मक विचार मे पड़े हुवे बहुत सी अन्य असमानताओं को बर्दाश्त कर रहे हैं। ठीक हो जाने पर ये असमानतायें भी उन्हें उन्हीं असमानताओं के समान, जिनको निन्दनीय समझना उन्होंने सीख लिया है, घृणित मालूम पड़ने लगेगी। समाज सुधार का समग्र इतिहास परिवर्तनों से भरा पड़ा है। वही रिवाज या संस्था जो आरम्भ मे सामाजिक अस्तित्व के लिये आवश्यक समझा जाता था बाद में अन्याय तथा अत्याचार समझा जाने लगता है और इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगती है कि उस रिवाज या संस्था का स्थान किसी दूसरे रिवाज या संस्था को दिया जाय। गुलामों और स्वतन्त्र मनुष्यों के भेद, सरदारों तथा नौकरों (Servants) के भेद तथा उच्च वंश वालों तथा निम्न वंश वालों के भेद के सम्बन्ध मे ऐसा ही हुआ है तथा आगे भी ऐसा ही होता रहेगा। रंग, जाति तथा स्त्री-पुरुष के भेद के सम्बन्ध मे अब भी कुछ २ ऐसा ही हो रहा है।

जो कुछ कहा गया है उस से प्रमाणित होता है कि न्याय या इन्साफ कतिपय नैतिक आवश्यकताओं का नाम है जिनका पलड़ा कुल मिलकर सामाजिक उपयोगिता की तराज़ू में भारी है और जो इस कारण अन्य नैतिक कर्तव्यों की अपेक्षा अधिक मान्य हैं। निःसन्देह कभी २ ऐसा अवसर हो सकता है जब कोई और सामाजिक कर्तव्य इतना महत्त्व-पूर्ण हो जाता

है कि उसके सामने न्याय या इन्साफ़ के साधारण सिद्धान्तों को ताक़ पर रखना पड़ता है, उदाहरणार्थ' प्राण बचाने के लिये आवश्यक भोजन या औषधि को चुराना या जबरदस्ती छीन लेना अथवा एक मात्र प्रशंसापत्र प्राप्त डाक्टर को ज़बरदस्ती भगा-लाना या उसे इलाज करने के लिये विवश करना केवल अनुमत ही नहीं वरन् कर्तव्य हो सकता है। ऐसे अवसरों पर हम किसी चीज को, जो पुण्य या गुण (virtue) नहीं है, न्याय या इन्साफ़ नहीं कहते। हम साधारणतया यह नहीं कहते हैं कि किसी दूसरे नैतिक सिद्धान्त के कारण न्याय को ताक पर रखना चाहिये वरन् कहते हैं कि जो बात साधारण दशा में न्याय-युक्त होती है इस विशेष स्थिति में उस दूसरे सिद्धान्त के कारण न्याय-युक्त नहीं रहती। भाषा का इस प्रकार प्रयोग करने के कारण न्याय या इन्साफ़ की नित्यता में भेद नहीं पड़ता और हम को यह प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि अन्याय या बे इन्साफ़ी प्रशंसनीय भी हो सकती है।

यह बात सदैव प्रत्यक्ष रही है कि न्याय-युक्त कार्य मसहलत के काम भी होते हैं। भेद यह होता है कि न्याय-युक्तता के साथ एक विशेष भाव (Sentiment) होता है जो उसे मसलहत से पृथक् करता है।

यदि इस विशेष भाव का कारण पूर्ण रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है, यदि इस भाव की कोई विशेष उत्पत्ति मानना आवश्यक नहीं है, यदि यह भाव बुरा मानने का प्राकृतिक भाव है तथा सामाजिक भलाई के अनुसार होने के कारण आचार-युक्त है, यदि यह भाव न्याय-युक्तता से संबन्ध

रखने वाली सब बातों में केवल मौजूद ही नहीं रहता है वरन् मौजूद रहना चाहिये तो फिर न्याय या इन्साफ का विचार उपयोगितात्मक आचारशास्त्र के मार्ग में कोई अड़चन नहीं है। न्याय उन कतिपय सामाजिक उपयोगिताओं का ठीक नाम रहता है जो बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है और इस कारण अन्य उपयोगिताओं से जाति के रूप मे अधिक निरपेक्ष तथा मान्य है। विशेष दशा मे किसी अन्य उपयोगिता का अधिक महत्वपूर्ण होना सम्भव है। इन कारणों से न्याय की कल्पना मे साधारण उपयोगिताओं की अपेक्षा किसी और अधिक दृढ भाव से काम लिया जाना चाहिये और ऐसा ही होता भी है।
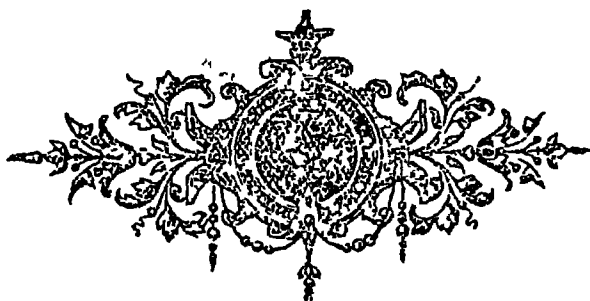
SUPPLEMENTARY NOTES

अतीतात्यक (Transcendentalists) – तत्त्वज्ञानियों के एक विशेष समुदाय का नाम है। इन्द्रियातीत सिद्धान्तों (Transcendental Theories) के मुख्य पोषक रिचर (Ritcher), फ़िशटे (Fichte) तथा शैलिंग हुए हैं। अमरीका में इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार एमरसन (Emerson) ने किया था।

एपीक्योरियन-एपीक्यूरस (३४२-२७० ईसा से पूर्व) नामक तत्त्ववेत्ता के अनुयायी। एपीक्यूरस का कहना था कि हम को इस कारण नेकी करनी चाहिये क्योंकि नेकी करने से सुख मिलता है और सुख से बढ़कर अन्य कोई चीज नहीं है।

कान्ट–एमैन्युअल कान्ट (१७२४–१८०४ ई०) नाम का जर्मनी में एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता तथा वैज्ञानिक हुआ है। १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के तत्त्ववेत्ताओं पर इस के विचारों का बड़ा प्रभाव पडा था।

कार्लायल–टामस कार्लायल (१७९५–१८८१ई०)नाम का एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक हुआ है। इसकी निम्न लिखित रचनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं:– (1) French Revolution (2) Past and Present, (3) Life & Letters of Oliver Cromwell (4) Fredrick the Great.

प्लेटो–प्लेटो (४२९–३४७ ई० से पूर्व) यूनान का प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता था। इसका असली नाम एरिस्टोक्लीज़ (Aristocles) था। यह सुक़रात का शिष्य तथा अरस्तू का गुरु था। 'डायलौग्स' (Dialogues) तथा 'रिपब्लिक' (Republic) नामक इसकी दो पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं।

प्रोटेगोरस—ईसा से ४०० वर्ष पूर्व इस नाम का यूनान में एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हुआ है। प्रोटेगोरस का उस समय के यूनानी देवताओं में विश्वास नहीं था। इस कारण इसके देशवासी इससे बहुत नाराज़ हो गये थे और इसको डुबो दिया था।

वैन्थम—वैन्थम जरमी (१७४८-१८३३) नामक एक अंग्रेज़ तत्त्ववेत्ता हुवा है। इसने अपने ग्रन्थों में उपयोगितावाद के सिद्धान्तों को खूब अच्छी तरह समझाया है।

सुकरात—यह प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता था। इसका जन्म सन् ४६६ बी०सी०में हुवा था। यह बड़े स्वाधीन विचार वाला था। अपने स्वाधीन विचारों के कारण ही सन् ३९९ बी० सी० में इस को ज़हर का प्याला पीना पड़ा था।

स्टायक्स—(Stoics)—जीनू नामक यूनानी तत्त्वज्ञानी के अनुयायी।

भूल सुधार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	५	दुःख	सुख
२६	१२	समझता	समझा
५७	२१	निन्यानवे	निन्यानवे काम
७१	३	किसी चीज़	किसी ऐसी चीज़
७९	४	भावों के (Arbitrary	भावों के निरकुश (Arbitrary)
१०६	४	जाता	जाता है
१०६	१५	समान साक्षी का व्यवहार	समान व्यवहार
१११	२१	इस प्रकार करने के लिये विवश किया जाय।	विवश किया जाय

१—कार्नेगी और उसके विचार ।

यदि आप जानना चाहते हैं कि किस प्रकार एक जुलाहे का लड़का अपने ही परिश्रम से करोड़पति–नहीं २ अरब पति—हो गया और फिर किस प्रकार अपने अतुल धन को परोपकार मे लगा दिया तो अवश्य इस पुस्तक को पढ़ें। पुस्तक का प्रत्येक शब्द नूतन उत्साह का सञ्चार करता है। प्रायः सब ही हिन्दी की मुख्य पत्र–पत्रिकाओं ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

प्रभा—पुस्तक उत्तम ढग से लिखी गई है। घर घर पढ़ी जानी चाहिये। कार्नेगी की जीवनी और उस के विचार दोनों ही महत्व पूर्ण और अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं॥

सरस्वती—जीवनचरित्र शिक्षाप्रद और मनोरञ्जक है। सुन्दर टाइप तथा अच्छे कागज पर छपी है॥

माधुरी—बड़ी योग्यता के साथ कार्नेगी के जीवन के हर पहलू पर, उसके विचारो पर और उसकी सफलता के रहस्य पर, प्रकाश डाला गया है। ऐसी पुस्तकों का अधिक प्रचार होना चाहिये। पुस्तक किसी उपन्यास से कम दिलचस्प नहीं है॥

MODERN REVEIW—

The life-story of this self-made steel-king and multi millionare of America is a source of inspiration. Hence this hindi work is most welcome.

२–टालसटाय की आत्म-कहानी।

जगत्-प्रसिद्ध रशियन महर्षि टालसटायको कौन नहीं जानता। टालसटाय का जन्म एक उच्च घराने में हुवा था। उस समय के उच्च-कुलोत्पन्न नव-युवकों के समान टालसटाय का यौवन काल भी अनेक घृणित कामों में बीता। दुराचार, मिथ्या-भाषण, लूटमार, मद्यपान, निर्दयता आदि सब ही दुष्कर्म उसने किये। किन्तु अन्त को उसके जीवन ने ऐसा पल्टा खाया कि महात्मा और ऋषि के नाम से पुकारा जाने लगा। यदि आप जानना चाहते हैं कि टालसटाय के जीवन में ऐसा बड़ा परिवर्तन किस प्रकार होगया तो आप यह पुस्तक अवश्य पढ़ें। यह पुस्तक टालसटाय की "My Confession" नामक पुस्तक का सरल तथा सरस हिन्दी मे अनुवाद है। योरोपीय भाषाओं में इस पुस्तक के सैंकड़ों संस्करण निकल चुके हैं। पुस्तक के आदि में भूमिका के अतिरिक्त टालसटाय का चित्र और जीवनचरित्र भी है। पृष्ठ सख्या १२० के लगभग। मूल्य केवल ।॥=)

प्रताप–यह महर्षि टालसटाय की आत्म-कहानी है। जिज्ञासुओ को यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये। महात्माओं की विचार-धारा में निमज्जित होने से चित्त को शान्ति मिलती है। विशेषत हिन्दी के पाठको को असहयोग के इस युग में टाल्सटाय के विचार अवश्य जानना चाहियें। पुस्तक की भाषा अच्छी है।

ज्योति–महात्माओ के जीवन-चरित्र का पाठ सदैव लाभदायक होता है और फिर टाल्सटाय जैसे महात्मा का जीवन-जिसने अन्धकार से प्रकाश में, कुमार्ग से सत्मार्ग में प्रवेश किया हो तो अवश्य ही शिक्षा-प्रद है। आरम्भ में १५ पृष्ठ में कारुणिक जी ने टाल्सटाय का जीवन-चरित्र देकर पुस्तक की उपयोगिता को और बढ़ा दिया है।

३—उपयोगिता वाद ।

प्रसिद्ध तत्वज्ञानी स्टुअर्ट मिल की युगपरिवर्त्तनकारी पुस्तक युटिलिटेरियनिज्म् (Utilitarianism) का सरल हिन्दी में अनुवाद । मूल पुस्तक के लेखक के नाम से ही पाठक पुस्तक की उत्तमता का अनुमान कर सकते हैं । मिल की पुस्तक की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है ।

पुस्तक के आरम्भ में मिल का चित्र और जीवन-चरित्र भी है । पृष्ठ संख्या १२० के लगभग । मूल्य ॥।)

४—आधुनिक सप्ताश्चर्य ।

व्योमयान, सब मैरीन (पनडुब्बियां), एक्सरेज़, बेतार का तार, टेलीफ़ोन, ग्रामोफोन, तथा रेडियम—अर्थात् आधुनिक काल के सात अत्यन्त महत्वपूर्ण, आश्चर्योत्पादक तथा युगपरिवर्त्तनकारी आविष्कारों-का सरल तथा भाषा मे मनोरञ्जक तथा सारगर्भित वृत्तान्त जिस को साधारण बुद्धि रखने वाले पाठक भी आसानी से समझ सकते हैं ।

बहुधा लोगों का विचार है कि वैज्ञानिक पुस्तकें शुष्क तथा अरुचिकर होती हैं, किन्तु इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकें भी मनोरञ्जक तथा रोमाञ्चकारी होने की दृष्टि से अच्छे से अच्छे तिलस्म तथा ऐय्यारी के उपन्यासों को नीचा दिखा सकती हैं ।

पुस्तक के आरम्भ मे विज्ञान के धुरन्धर विद्वान् श्रीयुत डाक्टर रामजीनारायण जी डी० एस० सी० की सारगर्भित तथा विद्वत्तापूर्ण भूमिका है ।

पुस्तक अनेक चित्रों से भूषित है । छप रही है । शीघ्रही प्रकाशित होगी ।

५--मुग़लों के अन्तिम दिन।

उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मुसव्विरे फितरत श्रीयुत ख्वाजा हसन निज़ामी के अन्तिम मुगल राजकुमार तथा राजकुमारियों से सम्बन्ध रखने वाले लेखों का सरल तथा सरस हिन्दी में रूपान्तर। बहादुरशाह बादशाह और उन के बीवी बच्चों की आपबीती दुःखभरी सच्ची कहानियां।

पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को मालूम होगा कि जिन मुगल सम्राटों के सामने एक दिन सारा भारतवर्ष सर झुकाता था उन्ही के वंशज आज पेट भर रोटी को तरसते हैं। कोई चपरासी का काम कर रहा है और कोई ठेला चला रहा है। कोई भीख मांग-कर ही जिन्दगी के दिन पूरे कर रहा है। पुस्तक ऐतिहासिक होने के साथ ही साथ मनोरञ्जकता की दृष्टि से अच्छे २ उपन्यासों का मात करती है। एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किये छोडने को जी नही चाहता।

पुस्तक के आरभ मे एक सारगर्भित भूमिका है जिस मे मुगल साम्राज्य का सक्षिप्त इतिहास है।

पुस्तक सचित्र और बहुत अच्छे कागज पर रंगीन स्याही में छपी है। कुल मिला कर १६२ पृष्ठ हैं। तिस परभी सर्व साधारण के सुभीते के लिये मूल्य लागत मात्र केवल ॥≠) रक्खा गया है।

हमारी अन्य पुस्तके

१—अनार कली।

कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक प्रसिद्ध गल्प का सरल तथा सरस हिन्दी अनुवाद। जहागीर बादशाह और नादिरा बेगम के सैंकड़ों वर्ष पुराने प्रेम का जीता जागता चित्र। मूल्य ≶)॥

महाकवि अकबर
और उनका उर्दू काव्य

प्रयाग निवासी अकबर, जिनका स्वर्गवास हुए थोड़ा ही समय हुआ है, आधुनिक समय के उर्दू के सब से बड़े कवि थे। आपने उर्दू कविता को गुलो बुलबुल तथा ज़ुल्फ़ों के फन्दे से निकाल कर समय के अनुसार उसमें एक प्रकार का नया जीवन डाल दिया था। अकबर केवल कवि ही नहीं थे वरन् बड़े तत्ववेत्ता तथा धार्मिक पुरुष भी थे। जिस रङ्ग में आप ने कविता की है उस रङ्ग में उर्दू तो क्या अन्य किसी देशीय भाषा के किसी कवि ने नहीं की।

इस पुस्तक में अकबर का जीवन चरित्र है। उनकी कविता पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली गई है तथा उनके भिन्न २ विषयों से संबन्ध रखने वाले शेर दिये गये हैं। पाठकों की सुगमता के लिये प्रत्येक शेर के नीचे कठिन शब्दों का अर्थ दे दिया गया है।

अकबर ने प्रेम, धर्म समाज-सुधार, राज-नीति आदि सब ही विषयों पर कविता की है। इस कारण प्रत्येक रुचि का मनुष्य इस पुस्तक में अपने मनोरञ्जन की सामग्री पा सकता है।

इस पुस्तक की सर्वप्रियता का अनुमान इस ही बात से हो सकता है कि इसका पहिला संस्करण हाथों हाथ बिक गया। अब संशोधित तथा परिवर्द्धित रूप में दूसरा संस्करण छप रहा है। इस संस्करण में कागज़ बहुत बढ़िया लगाया गया है तथा अकबर का चित्र भी दे दिया गया है। पृष्ठ संख्या २०० के लगभग। मूल्य केवल १)

व्यवस्थापक—ज्ञान प्रकाश मन्दिर,

पो० माछरा—ज़ि० मेरठ

डाइमंड पेज विद्या प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ में छपा।